॥ श्रीहरिः ॥

433

सहज साधना

(तत्त्वप्राप्तिका सहज और सरल उपाय)

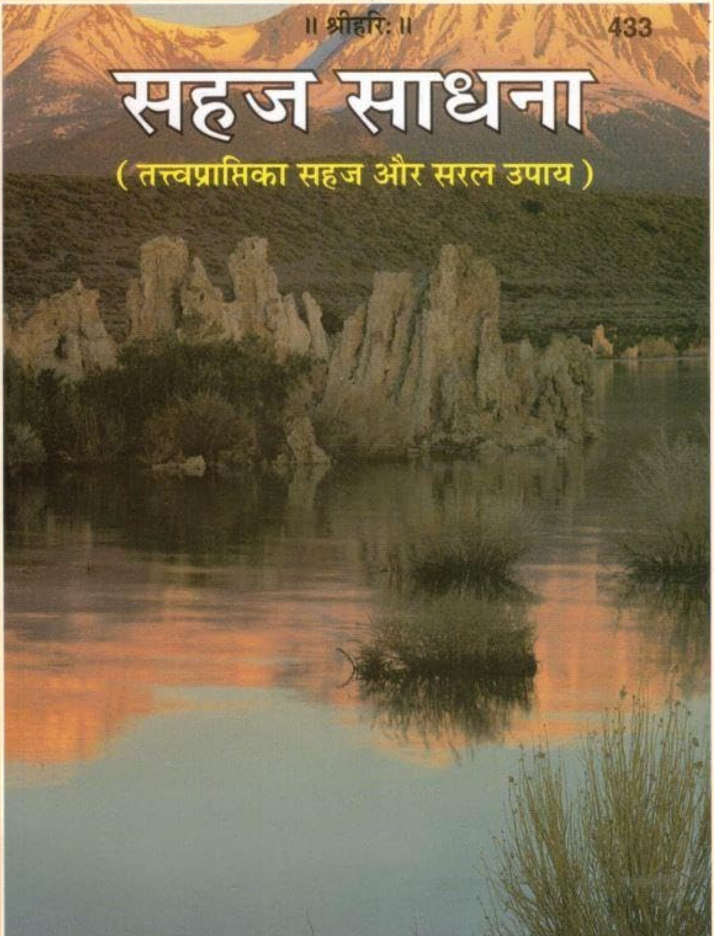

स्वामी रामसुखदास

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

॥ श्रीहरिः ॥

सहज साधना

(तत्त्वप्राप्तिका सहज और सरल उपाय)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

सं० ------ ----- पुनर्मुद्रण -----
कुल मुद्रण ------

❖ **मूल्य— ---- रु०**
(---- रुपये)

ISBN ---------------

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
e-mail : **booksales@gitapress.org** website : **www.gitapress.org**

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंकी सेवामें यह पुस्तक प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है! यह पुस्तक साधकोंके विवेकका विकास एवं उत्साहका वर्धन करते हुए उन्हें सरलता एवं शीघ्रतापूर्वक साध्यकी प्राप्ति करानेमें सहायक होगी—ऐसा हमारा विश्वास है। जैसे नौकी संख्या अपने-आपमें पूर्ण है, ऐसे ही नौ लेखोंवाली यह पुस्तक भी अपने-आपमें पूर्ण है और अपना सेवन करनेवालोंको पूर्णता प्रदान करनेवाली है।

साधकोंसे प्रार्थना है कि वे केवल तत्त्वका अनुभव करनेके उद्देश्यसे ही इस पुस्तकका तत्परतापूर्वक अध्ययन करें, सीखने और सिखानेके लिये नहीं। ऐसा करनेसे ही वे इस पुस्तकका वास्तविक लाभ ले सकेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

१-निर्दोषताका अनुभव ५

२-नित्ययोग तथा उसका अनुभव ११

३-भगवान्‌में अपनापन २०

४-जिज्ञासा और बोध २४

५-अहम्‌का नाश तथा तत्त्वका अनुभव २७

६-करण-निरपेक्ष तत्त्व ३४

७-असत्‌का वर्णन ४२

८-वर्णनातीतका वर्णन ४८

९-चुप-साधन ५६

॥ श्रीहरिः ॥

१. निर्दोषताका अनुभव

भगवान्‌का साक्षात् अंश होनेसे जीवका भगवान्‌से साधर्म्य है। अतः जैसे भगवान् निर्दोष हैं, ऐसे जीव भी स्वरूपसे सर्वथा निर्दोष है। यह निर्दोषता अपने उद्योगसे लायी हुई नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध और सहज है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

मनुष्योंके भीतर यह बात बैठी हुई है कि हम दोषोंको दूर करेंगे, निर्दोष बनेंगे, तब भगवान्‌की प्राप्ति होगी। परन्तु सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेका जो तरीका है, वह तरीका परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति तो अप्राप्तकी प्राप्ति है, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। स्वरूप स्वतः-स्वाभाविक निर्दोष तथा नित्यप्राप्त है। अतः इस निर्दोषताको स्वीकार करना है, इसको बनाना नहीं है और दोषोंसे उपरत होना है, उनको मिटाना नहीं है। तात्पर्य है कि अपनेमें निर्दोषता तो वास्तवमें है और सदोषता मानी हुई है, है नहीं। अतः इस मान्यताका त्याग करना है। अगर दोषोंको अपनेमें स्वीकार करके फिर उनको दूर करनेका प्रयत्न करेंगे तो वे दूर नहीं होंगे, प्रत्युत और दृढ़ हो जायँगे। कारण कि दोषोंको अपनेमें मानकर उनको सत्ता देंगे, तभी तो उनको मिटानेका उद्योग करेंगे!

यह प्रत्येक साधकका अनुभव है कि साधन करनेसे

पहले दोष जितने वेगसे आता था, उतने वेगसे अब नहीं आता; जितनी देर ठहरता था, उतनी देर अब नहीं ठहरता; और जितनी जल्दी आता था, उतनी जल्दी अब नहीं आता। ऐसा फर्क अपनेमें देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये कि वास्तवमें दोष अपनेमें नहीं हैं। अगर ये अपनेमें होते तो ऐसा फर्क देखनेमें नहीं आता। तात्पर्य है कि दोषोंमें तो फर्क पड़ा, पर अपनेमें कोई फर्क नहीं पड़ा; अतः दोष अपनेसे अलग हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि जितने भी दोष हैं, सब असत् हैं और असत्‌के सम्बन्धसे पैदा हुए हैं। जैसे नींदके सम्बन्धसे जाग्रत्‌की विस्मृति हो जाती है और स्वप्न दीखने लगता है, ऐसे ही असत्‌के सम्बन्धसे स्वतःसिद्ध निर्दोषताकी विस्मृति हो जाती है और दोष दीखने लगते हैं। दोष स्वप्नकी सृष्टिके समान दीखते तो हैं, पर वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

दोष आगन्तुक हैं, पर निर्दोष स्वरूप आगन्तुक नहीं है। यह सबका अनुभव है कि दोषोंके आनेपर भी हम रहते हैं और दोषोंके चले जानेपर भी हम रहते हैं। दोष आते-जाते हैं, पर हम आते-जाते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हमें दोषोंके आने-जानेका भान होता है तो इससे अपनेमें स्थायीरूपसे निर्दोषता सिद्ध होती है। कारण कि निर्दोष हुए बिना दोषोंका भान नहीं होता। हम निर्दोष हैं, तभी दोषोंका भान होता है और जिसका भान होता है, वह अपनेसे दूर होता है। कैसा ही दोष क्यों न हो, वह मन-बुद्धिमें ही आता

है, अपनेमें कभी नहीं। परन्तु मन-बुद्धिके साथ तादात्म्य होनेसे दोष अपनेमें दीखने लगता है। प्रकृतिका कार्य होनेसे मन-बुद्धि भी दोषी और अनित्य हैं। हमारा सम्बन्ध न मन-बुद्धिके साथ है और न उनमें आनेवाले दोषोंके साथ।

जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता, यह सिद्धान्त है—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा**' (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)। जैसे दर्पणमें मुख पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी वह वास्तवमें है नहीं। ऐसे ही अपनेमें दोष पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें दीखते हुए भी वह अपनेमें नहीं है। जैसे दर्पणमें मुखकी प्रतीति है, ऐसे ही अपनेमें दोषोंकी प्रतीति है, वास्तवमें दोष हैं नहीं।

जैसे अपनेमें दोष नहीं हैं, ऐसे ही दूसरेमें भी दोष नहीं हैं। सबका स्वरूप स्वतः निर्दोष है। अतः कभी किसीको दोषी नहीं मानना चाहिये अर्थात् निर्दोष स्वरूपकी तरफ ही स्वतः दृष्टि रहनी चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि दूसरेने आगन्तुक दोषके वशीभूत होकर क्रिया कर दी, पर न तो वह क्रिया स्थायी रहेगी तथा न उसका फल स्थायी रहेगा। क्रिया और फल तो नहीं रहेंगे, पर स्वरूप रहेगा। अगर हम दूसरेमें दोष मानेंगे तो उसमें वे दोष आ जायँगे; क्योंकि उसमें दोष देखनेसे हमारा त्याग, तप, बल आदि भी उस दोषको पैदा करनेमें स्वाभाविक सहायक बन जायगा, जिससे वह व्यक्ति दोषी हो जायगा। अतः (सिद्धान्तकी दृष्टिसे) पुत्र, शिष्य आदिको स्वरूपसे निर्दोष मानकर और उनमें दीखनेवाले

दोषको आगन्तुक मानकर ही उनको (व्यवहारकी दृष्टिसे) शिक्षा देना चाहिये। उनमें निर्दोषता मानकर ही उनके आगन्तुक दोषको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

अगर मन-बुद्धिमें कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (गीता ३। ३४) अर्थात् उसके अनुसार कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। परन्तु उसके वशीभूत होकर क्रिया न करनेसे एक उत्साह पैदा होगा। जैसे, किसीने हमें कड़वी बात कह दी, पर हमें क्रोध नहीं आया तो हमारे भीतर एक उत्साह, प्रसन्नता होगी कि आज तो हम बच गये! परन्तु इसमें अपना उद्योग न मानकर भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये कि भगवान्‌की ही कृपासे आज हम बच गये, नहीं तो इसके वशीभूत हो जाते! इस तरह साधकको कभी भी कोई दोष दीखे तो वह उसके वशीभूत न हो और उसको अपनेमें भी न माने।

मूल दोष है—मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग। हम असत्‌की सत्ता मान भी सकते हैं और नहीं भी मान सकते; छल, कपट, हिंसा आदि कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते—यह मिली हुई स्वतन्त्रता है। जबसे हमने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, तभीसे जन्म-मरण आरम्भ हुआ। अब इसका दुरुपयोग न करनेसे ही जन्म-मरणसे छुटकारा होगा। इसलिये साधकको चाहिये कि वह मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग न करे। दुरुपयोग न करनेसे निर्दोषता सुरक्षित रहेगी।

जब मनुष्य मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके असत्‌का संग करता है, तब वह असत्‌के संगसे होनेवाले संयोगजन्य सुखमें आसक्त हो जाता है। संयोगजन्य सुखकी आसक्तिसे ही सम्पूर्ण दोष पैदा होते हैं।

असत् पदार्थोंमें जो रुचि है, भोग और संग्रहमें जो अच्छापन दीखता है, सुख दीखता है और उसको पानेकी जो इच्छा होती है—यही सम्पूर्ण दोषोंकी जड़ है। संयोगजन्य सुखकी इच्छा उसीमें पैदा होती है, जो दुःखी है। दुःखी आदमी ही सुखकी इच्छा करता है और सुख भी उसीको मिलता है, जो दुःखी होता है; जैसे भोजनका सुख उसीको मिलता है, जो भूखा होता है। सुखके बाद दुःख आता है, यह नियम है—“**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**” (गीता ५।२२)। इस प्रकार सुखके पहले भी दुःख है और सुखके बाद भी दुःख है—ऐसा समझनेसे सुखकी इच्छाका त्याग हो जाता है; क्योंकि दुःखको कोई भी नहीं चाहता। सुखकी इच्छाका त्याग होनेपर स्वतःसिद्ध निर्दोषताका अनुभव हो जाता है।

निर्दोषता कृतिसाध्य नहीं है। निर्दोषताको कृतिसाध्य माननेसे अभिमान आता है, जो सम्पूर्ण दोषोंका आश्रय है। वास्तवमें निर्दोषता स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक और सहज है। इस निर्दोषताकी रक्षा करना साधकका काम है। निर्दोषताकी रक्षा करनेका तात्पर्य है—अपनेमें निर्दोषताको निरन्तर स्थायीरूपसे स्वीकार करना और अपनेमें दोषोंको स्वीकार न करना। मेरेमें दोष नहीं हैं—ऐसा मान लेनेके बाद फिर कभी दोष

आता हुआ दीखे तो 'हे नाथ! हे नाथ!!' कहकर भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भगवान् अपने शरणागत भक्तोंके योग और क्षेमका वहन करते हैं— **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९। २२) अर्थात् निर्दोषताकी रक्षा करते हैं और आगन्तुक दोषको दूर करते हैं, फिर हम चिन्ता क्यों करें? जिसकी कृपासे हमें अपनेमें निर्दोषताका ज्ञान हुआ है, वही उस निर्दोषताकी रक्षा भी करेगा—इस प्रकार भगवान्‌की कृपाको स्वीकार करनेसे दोषोंका आना-जाना भी रुक जायगा।

निर्दोषताका अनुभव करनेके लिये जैसे भगवान्‌को पुकारना एक उपाय है, ऐसे ही अपनेमें निर्दोषताकी दृढ़ स्वीकृति भी एक उपाय है। 'है' रूपसे अपनी जो सत्ता है, वह सर्वथा निर्दोष है। सत्तामात्रमें कोई दोष, विकार सम्भव ही नहीं है। उस निर्दोषतामें सबकी स्थिति स्वतः है, स्वाभाविक है, सहज है, नित्य है और स्वयंसिद्ध है। अपनी इस निर्दोषताको दृढ़तासे स्वीकार करके बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। चुप होनेसे अर्थात् निर्दोष सत्ताको ही महत्त्व देनेसे दोषोंके सर्वथा अभावका अनुभव स्वतः हो जाता है। यह अनुभव एक बार हो जानेपर फिर सदाके लिये वैसा ही रहता है; क्योंकि यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत वास्तविकताका अनुभव है।

२. नित्ययोग तथा उसका अनुभव

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही अनादि कहा गया है—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (गीता १३।१९)। अनादि होते हुए भी दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। प्रकृतिमें तो निरन्तर क्रिया होती है; किन्तु पुरुषमें क्रिया होती ही नहीं। दोनोंके इस भेदको ठीक तरहसे समझ लेना चाहिये।

शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि प्रकृतिकी एक अक्रिय अवस्था होती है और एक सक्रिय अवस्था होती है। परन्तु वास्तवमें सक्रिय अवस्थाकी अपेक्षासे अक्रिय अवस्था कही जाती है। प्रकृतिकी सूक्ष्म क्रिया अक्रिय अवस्थामें भी कभी बन्द नहीं होती। जैसे, हम कभी जागते हुए काम-धंधा करते हैं और कभी सब काम-धंधा छोड़कर नींद लेते हैं; परन्तु शरीरके नाशकी क्रिया कभी बन्द नहीं होती। नींदमें भी तीन तरहकी क्रिया होती है। एक क्रिया नींदके पकनेकी होती है*, एक क्रिया थकावट मिटकर ताजगी आनेकी होती है और तीसरी एक क्रिया शरीरके नाशकी (उम्र नष्ट होनेकी) होती है। नाशकी यह क्रिया स्वतः-स्वाभाविक निरन्तर होती रहती है। जब सृष्टि पैदा होती है, तब भी यह क्रिया होती है और जब सृष्टिका लय हो जाता है, तब भी यह क्रिया होती है। सृष्टिका लय होनेपर प्रकृति निष्क्रिय कही जाती

---

* नींद लेते समय कोई बीचमें ही हमें जगा देता है तो हम कहते हैं कि कच्ची नींदमें जगा दिया। इससे सिद्ध होता है कि नींदमें भी पकनेकी क्रिया होती है।

है, पर किस विषयमें? सृष्टि-रचनाके विषयमें। वास्तवमें प्रकृति कभी निष्क्रिय नहीं होती। जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें, समाधिमें, सर्गमें, प्रलयमें, महासर्गमें, महाप्रलयमें, हर समय प्रकृतिमें क्रिया होती रहती है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, धन, सम्पत्ति, वैभव आदि तथा तारे, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र आदि जितना दृश्य (प्रकृतिका कार्य) दीखता है, सबमें प्रतिक्षण क्रिया हो रही है। इस प्राकृत क्रियामें उत्पत्ति और विनाशका एक क्रम (प्रवाह) चलता है और यह क्रम ही स्थितिरूपसे दीखता है, वास्तवमें स्थिति है नहीं। जैसे, हम कहते हैं कि गंगाजीका जल कलकी जगह ही बह रहा है तो इसमें दो बातें हैं—(१) 'कलकी जगह' और (२) 'बह रहा है'। तात्पर्य है कि कलकी जगह दीखनेपर भी जल स्थिर नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बह रहा है। इसी तरह ये शरीर-संसार स्थिर दीखते हुए भी निरन्तर बह रहे हैं, नाशकी तरफ जा रहे हैं। परन्तु परमात्मतत्त्व और अपने स्वरूपमें क्रिया नहीं है। ये सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अगर इनमें किंचिन्मात्र भी क्रिया होती तो ये सदा ज्यों-के-त्यों नहीं रहते, प्रत्युत बदल जाते।

प्रकृतिकी प्रत्येक क्रिया हमारे स्वरूपसे निरन्तर अलग हो रही है और अलग है। यह सबका अनुभव है कि बालकपनमें मैं ऐसा करता था और आज मैं ऐसा करता हूँ। परन्तु बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो गया—यह प्राकृत क्रिया हुई और मैं वही हूँ—यह अक्रिय स्वरूप हुआ। बालकसे जवान

और जवानसे बूढ़ा होनेके लिये कोई उद्योग नहीं करना पड़ता, प्रत्युत यह परिवर्तनरूप क्रिया शरीरमें स्वतः-स्वाभाविक हो रही है। स्वयंने शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया, इसलिये शरीरमें होनेवाली क्रिया अपनेमें दीखने लग गयी; जैसे—मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ आदि। शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अज्ञान है और शरीरको स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेना ही ज्ञान है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ (गीता १३। २)

साधकको ऐसा अनुभव करना चाहिये कि जितनी भी क्रिया होती है, वह सब शरीरमें ही होती है। उम्र भी शरीरकी ही होती है। स्वयंकी उम्र नहीं होती। काल भी शरीरको ही खाता है। चाहे स्थूलशरीरकी क्रिया हो, चाहे सूक्ष्मशरीरकी चिन्तन, मनन, ध्यान आदि क्रिया हो, चाहे कारणशरीरकी समाधि हो*, सबको काल निरन्तर खा रहा है। परन्तु स्वयंको काल नहीं खाता। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है। वह सम्पूर्ण क्रियाओंका साक्षी है। उस क्रियारहित स्वयंमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करना ही मुक्ति है और क्रियासहित शरीरमें स्थित होना ही बन्धन है।

क्रिया और अक्रियाको दूसरे शब्दोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति भी कह सकते हैं। संसारकी प्रत्येक प्रवृत्तिकी स्वतः निवृत्ति हो रही है। प्रवृत्तिके समय भी निवृत्ति ज्यों-की-त्यों

* समाधिमें भी क्रिया होती है, तभी उससे व्युत्थान होता है।

विद्यमान है। हम सोते हैं, जागते हैं, बैठते हैं, चलते हैं, सुनते हैं, बोलते हैं तो इन सब क्रियाओंमें भी नाशकी तरफ जानेवाली क्रिया (निवृत्ति) निरन्तर हो रही है। यह निवृत्ति नित्य है। इसका कभी नाश नहीं होता। इस नित्य निवृत्तिको ही गीताने '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (३।२८), '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५।९) आदि पदोंसे कहा है।

हम पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करते हैं, पर वास्तवमें प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत निवृत्ति ही होती है। जैसे, धन प्राप्त हो गया तो वास्तवमें धनकी निवृत्ति हुई है। किसी आदमीको पचास वर्ष धनी रहना है और एक वर्ष बीत गया तो अब वह पचास वर्ष धनी नहीं रहेगा, उसकी एक वर्षकी धनवत्ता निवृत्त हो गयी। इस तरह क्रियामात्र निरन्तर हमारेसे निवृत्त हो रही है अर्थात् अलग हो रही है। परन्तु संयोगकी रुचिके कारण हमें निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति दीखती है। अगर संयोगकी रुचि मिट जाय तो नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी।

अपने स्वरूपमें अथवा परमात्मतत्त्वमें अपनी स्थितिका नाम नित्ययोग है। इस नित्ययोगकी प्राप्तिके लिये ही सब साधन हैं। यह नित्ययोग ही गीताका योग है, जिसकी परिभाषा भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—(१) समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२।४८) और (२) दुःखस्वरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (६।२३)। चाहे समता कह दो, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दो, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति होनेपर संसारके

संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। इसीको शास्त्रोंमें मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति कहा गया है। गीताने मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्तिको कहा है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' और परमानन्दकी प्राप्तिको कहा है—'**समत्वं योग उच्यते**'। मूलाविद्यासहित जगत्‌की निवृत्तिका नाम भी योग है और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम भी योग है। इस योगकी प्राप्तिमें संयोगकी रुचि और क्रियाकी रुचि ही खास बाधक है। पदार्थ अच्छे लगते हैं, करना अच्छा लगता है—यही खास बाधा है। पदार्थ और क्रिया प्रकृतिका स्वरूप है। अगर पदार्थों और क्रियाओंका आकर्षण न रहे तो अपने अक्रिय स्वरूपका स्वतः अनुभव हो जायगा*। मूलमें पदार्थोंके संयोगकी रुचि ही बाधक है; क्योंकि संयोगकी रुचि होनेसे ही क्रियाकी रुचि होती है। क्रियाकी रुचिसे कर्तृत्वाभिमान आता है और कर्तृत्वाभिमानसे देहाभिमान दृढ़ होता है। अगर संयोगकी रुचि न रहे तो क्रियाकी रुचि नहीं होगी; क्योंकि किसी-न-किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही क्रिया की जाती है।

---

* यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६। ४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।

संयोगकी रुचि कैसे नष्ट हो? इसके तीन उपाय हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग[१]। कर्मयोगमें—जो भी क्रिया करें, दूसरोंके हितके लिये ही करें, अपने लिये नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरकी सब क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये करनेसे अपनेमें क्रिया और पदार्थकी रुचि नष्ट हो जायगी[२]। ज्ञानयोगमें—सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्यमें हो रही हैं, अपने स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं हो रही है—इस विवेकको महत्त्व दें तो यह रुचि नष्ट हो जायगी। भक्तियोगमें—सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करें तो यह रुचि नष्ट हो जायगी। इस तरह क्रियाओंको चाहे संसारके लिये करो, चाहे प्रकृतिमें होनेवाली मान लो, चाहे भगवान्‌के लिये करो। क्रियाओंके साथ अपना कोई सम्बन्ध मत मानो; क्योंकि सम्बन्ध माननेसे ही अपनेमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व आता है। क्रियाओंके साथ

१-योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

२-एक क्रिया होती है, एक कर्म होता है और एक कर्मयोग होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह क्रिया है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य होता है; न बन्धन होता है, न मुक्ति होती है। जैसे, गंगाजीका बहना क्रिया है। अत: कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गंगाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है, तब वह क्रिया फलजनक कर्म बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य नि:स्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह कर्मयोग हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है और मुक्ति होती है—'यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते' (गीता ४। २३); 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:' (गीता ३। ९)।

अपना सम्बन्ध न माननेसे करने और पानेकी रुचि मिट जायगी और नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी।

हमारेको भोग मिल जायँ, पदार्थ मिल जायँ, रुपये मिल जायँ—इस तरह संयोगकी रुचि तो रहती है, पर संयोग नहीं रहता। कारण कि संसारका नित्य वियोग है। जिसका नित्य वियोग है, उसका संयोग कैसे रहेगा? संसारमात्रका निरन्तर अपने स्वरूपसे स्वतः वियोग हो रहा है। पहले भी वियोग था, पीछे भी वियोग रहेगा और वर्तमानमें संयोगके समय भी निरन्तर वियोग हो रहा है। तात्पर्य है कि संसारका वियोग ही सत्य है। वियोग होनेपर फिर संयोग हो जाय—इसका तो पता नहीं है, पर जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा; क्योंकि संसारका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है।

संसारके संयोगमें दुःख-ही-दुःख है। इसलिये भगवान्‌ने संसारको दुःखरूप कहा है—‘**दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**’ (६। २३); ‘**दुःखालयम्**’ (८। १५)। कारण कि प्रत्येक संयोगका वियोग होता ही है; और वियोगमें दुःख होता है—यह सबका अनुभव है। अगर हम संयोगकी इच्छा छोड़ दें तो उसका वियोग होनेसे दुःख नहीं होगा। संयोगकी इच्छा ही दुःखोंका घर है। संयोगकी इच्छा क्यों होती है? कि हम संयोगजन्य सुख भोगते हैं तो अन्तःकरणमें उसके संस्कार पड़ जाते हैं, जिसको वासना कहते हैं। फिर जब भोग सामने आते हैं, तब वह वासना जाग्रत् हो जाती है, जिससे संयोगकी रुचि पैदा होती है। संयोगकी रुचिसे इच्छा पैदा हो जाती है।

इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि संयोगजन्य जितने भी सुख हैं, वे सब आदि-अन्तवाले और दुःखोंके कारण हैं अर्थात् उनसे दुःख-ही-दुःख पैदा होते हैं। इसलिये विवेकी मनुष्य उनमें रमण नहीं करता*। कारण कि संयोगजन्य सुखोंका वियोग होगा ही। अगर उनमें रमण करनेकी इच्छा करेंगे तो वह दुःख ही देगा।

सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों और क्रियाओंका निरन्तर ही हमारे स्वरूपसे वियोग हो रहा है। यह वियोग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक तथा सहज ही वियोग होता है। इस वियोगको हम स्वीकार कर लें अर्थात् संयोगकालमें ही वियोगका अनुभव कर लें तो संयोगकी इच्छा मिट जायगी। संयोगकी इच्छा मिटते ही योगकी प्राप्ति स्वतः हो जायगी। उसकी प्राप्तिके लिये कुछ करना नहीं पड़ेगा। कारण कि वास्तवमें योग स्वतः-स्वाभाविक प्राप्त है। शरीरकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्थामें तथा संसारकी सर्ग, प्रलय, महासर्ग और महाप्रलय-अवस्थामें भी योग ज्यों-का-त्यों है। सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें ज्यों-का-त्यों रहनेसे इसको 'नित्ययोग' कहते हैं।

जिसका निरन्तर वियोग हो रहा है, उसके संयोगकी इच्छा छोड़ दो तो योगकी प्राप्ति हो जायगी अथवा एक 'है'-रूप परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाओ तो योगकी प्राप्ति हो जायगी

* ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५।२२)

और संसारका स्वतः वियोग हो जायगा। दोनोंमेंसे किसी एकको कर लो तो दोनों अपने-आप हो जायँगे। इसमें एक मार्मिक बात है कि अलग उसीसे होना है, जो पहलेसे ही अलग है तथा अलग हो रहा है और प्राप्ति उसीकी करनी है, जो पहलेसे ही प्राप्त है। हमें संसारसे अलग होना है तो संसार सदा ही हमारेसे अलग है और परमात्माको प्राप्त करना है तो परमात्मा सबको सदा प्राप्त हैं। तात्पर्य है कि संसारका वियोग और परमात्माका नित्ययोग क्रियासाध्य नहीं है, प्रत्युत ये दोनों सहज तथा स्वाभाविक हैं। आवश्यकता केवल माने हुए संयोगकी रुचि मिटानेकी है। चाहे माने हुए संयोगकी रुचि मिटा दो, चाहे परमात्माके साथ अपने नित्ययोगको पहचान लो, जो पहले भी था, पीछे भी रहेगा और अब भी ज्यों-का-त्यों है।

३. भगवान्‌में अपनापन

वास्तवमें कोई भी मनुष्य अनाथ नहीं है। सब-के-सब मनुष्य सनाथ हैं। संसारमें प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई मालिक होता है, फिर मनुष्यका कोई मालिक न हो—यह कैसे हो सकता है? जो सबके मालिक हैं, वे भगवान् हमारे भी मालिक हैं। हम उनको अपना मालिक मानें या न मानें, जानें या न जानें, पर वे हमें अपना जानते ही हैं। अतः अपनेको अनाथ समझना हमारी भूल है।

मनुष्यको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है? जब वह किसी वस्तु-व्यक्तिको अपना मान लेता है, तब उसका अभाव होनेसे उसको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव होने लगता है। यह नियम है कि जब मनुष्य अपनेको किसी वस्तु-व्यक्तिका मालिक मान लेता है, तब वह अपने मालिकको भूल जाता है। जैसे, बालक माँके बिना नहीं रह सकता; परन्तु जब वह बड़ा हो जाता है और स्त्री, पुत्र आदिको अपना मानने लगता है, तब वह उसी माँकी उपेक्षा करने लगता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने शरीरको अपना माननेवाले अर्थात् अपनेको शरीरका मालिक माननेवाले जीवात्माको 'ईश्वर' नामसे कहा है—'**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः**' (१५। ८)। अगर मनुष्य भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न माने तो उसका भूलसे माना हुआ अनाथपना मिट जायगा और सनाथपनेका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवान् ही सदासे अपने हैं। संसार पहले अपना नहीं था, पीछे अपना नहीं रहेगा और अब भी वह निरन्तर हमारेसे बिछुड़ रहा है। परन्तु भगवान् पहले भी अपने थे, पीछे भी अपने रहेंगे और अब भी वे अपने हैं। वे हमें कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं, सर्वथा मिलते हैं तो भी अपने हैं और कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं। परन्तु संसार सर्वथा मिला हुआ दीखनेपर भी अपना नहीं है। कारण कि जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकता और हम सदा जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं हो सकता। अपना वही हो सकता है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें अर्थात् जो हमारेसे कभी न बिछुड़े और हम उससे कभी न बिछुड़ें।

एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि संसारमें जिसको हम अपना मानते हैं, वह तो नहीं रहता, पर उससे माना हुआ अपनापन रह जाता है अर्थात् सम्बन्धी तो नहीं रहता, पर सम्बन्ध रह जाता है! जैसे, किसी स्त्रीको विधवा हुए बहुत वर्ष बीत गये, पर पतिका नाम सुनते ही उसके कान खड़े हो जाते हैं अर्थात् पतिके न रहनेपर भी उसका पतिके साथ सम्बन्ध बना रहता है कि मैं अमुककी पत्नी हूँ। यहाँ शंका होती है कि पिताके न रहनेपर यदि पुत्र पितासे सम्बन्ध न माने तो वह श्राद्ध-तर्पण कैसे करेगा, जो कि शास्त्रका विधान है? इसका समाधान है कि अपने स्वार्थके लिये, अपने सुखभोगके लिये माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है। पितृऋण उतारनेके लिये, सेवा करनेके लिये माना हुआ

सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला होता है*।

तात्पर्य है कि अगर वस्तुएँ अपनी दीखती हैं तो वे केवल दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये, सदुपयोग करनेके लिये अपनी हैं। अगर व्यक्ति अपने दीखते हैं तो वे केवल निःस्वार्थभावसे सेवा करनेके लिये अपने हैं। अपने लिये कुछ भी अपना नहीं है। अपने सुख-आरामके लिये वस्तु-व्यक्तिको अपना मानना जन्म-मरणका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। इसलिये जो संसारमें कुछ भी अपना मानता है, उसको कुछ भी नहीं मिलता और जो कुछ भी अपना नहीं मानता, उसको सब कुछ मिलता है अर्थात् भगवान् मिलते हैं।

अपनी बुद्धि, विचार, सामर्थ्यसे वस्तुओंका दुरुपयोग न करके उनका सदुपयोग करनेसे वस्तुओंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है और निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे व्यक्तियोंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। सम्बन्ध मिटनेसे मुक्ति हो जाती है। यहाँ शंका होती है कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुष दूसरोंकी सेवा (हित) में क्यों लगे रहते हैं?

---

* ऋणी और अपराधीकी जल्दी मुक्ति नहीं होती। फल-भोगसे अथवा दान-पुण्यादि शुभकर्मोंसे पाप तो नष्ट हो जाते हैं, पर ऋण और अपराध नष्ट नहीं होते। जिस व्यक्तिसे ऋण लिया है अथवा जिस व्यक्तिका अपराध किया है, वे माफ कर दें तभी ऋण और अपराधसे मुक्ति होती है। मूलमें संसारको अपना माननेसे ही मनुष्य ऋणी, गुलाम, अनाथ, तुच्छ तथा पतित होता है। जो संसारमें कुछ भी अपना नहीं मानता, वह किसीका ऋणी और अपराधी बनता ही नहीं; क्योंकि जब आधार ही नहीं रहेगा तो फिर ऋण, अपराध आदि कहाँ टिकेंगे—'मूलाभावे कुतः शाखा'?

इसका समाधान है कि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—‘**सर्वभूतहिते रताः**’ (गीता ५। २५, १२। ४), इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है—‘**स्वभावस्तु प्रवर्तते**’ (गीता ५। १४)। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके स्वभावसे उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है।

भगवान्‌के सिवाय हम जिसको भी अपना मानते हैं, वह अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि ममता ही मल (अशुद्धि) है—‘**ममता मल जरि जाइ**’ (मानस ७। ११७ क)। इतना ही नहीं, उसको अपना मानकर हम उसके मालिक बनना चाहते हैं, पर वास्तवमें उसके गुलाम बन जाते हैं; उसको ठीक करना चाहते हैं, पर वास्तवमें वह बेठीक हो जाता है। हम जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, जमीन, मकान, आदिको अपना मानते हैं, वे सब अशुद्ध हो जाते हैं और उनके सुधारमें बाधा लग जाती है। परन्तु उनको अपना न माननेसे वे भगवान्‌की शक्तिसे शुद्ध हो जाते हैं, प्रसाद बन जाते हैं, उनमें विलक्षणता आ जाती है; क्योंकि वास्तवमें वे भगवान्‌के ही हैं।

तात्पर्य है कि वस्तुको अपना माननेसे वह अशुद्ध हो जाती है और हम अनाथ तथा पराधीन हो जाते हैं। अगर हम वस्तुको अपना न मानें तो वस्तु शुद्ध हो जायगी और हमें अपने सनाथपनेका तथा स्वाधीनताका अनुभव हो जायगा।

४. जिज्ञासा और बोध

जिज्ञासाका विषय वास्तवमें जीव और जगत् हैं, परमात्मा नहीं। कारण कि जिज्ञासा अधूरी जानकारी (सन्देह) में होती है अर्थात् जिस विषयमें हम कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते, वहाँ जिज्ञासा होती है*। अतः जिस विषयको किंचिन्मात्र भी नहीं जानते, उसमें जिज्ञासा नहीं होती और जिस विषयको पूरी तरह जानते हैं, उसमें भी जिज्ञासा नहीं होती; क्योंकि उसका अनुभव होता है। परमात्माके विषयमें हम बिलकुल नहीं जानते; अतः परमात्मा जिज्ञासा या विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत मान्यताका विषय है। जीव और संसारको हम पूरी तरह नहीं जानते; जैसे—मैं हूँ और संसार है—यह तो जानते हैं, पर मैं क्या हूँ और संसार क्या है—यह तत्त्वसे नहीं जानते। अतः जीव और संसार जिज्ञासाके विषय हैं।

यद्यपि शास्त्रोंमें परमात्माको भी जिज्ञासाका विषय माना गया है—'**जगज्जीवपरात्मनाम्**', तथापि यह जिज्ञासाका विषय उन्हींके लिये है, जो वेदादिक शास्त्रोंपर और भक्तोंपर श्रद्धा-विश्वास रखते हों। वेदादिक शास्त्रोंमें और सन्तवाणीमें परमात्माका वर्णन किया गया है; अतः उस वर्णनको लेकर उनमें परमात्माकी जिज्ञासा होती है।

---

* जितना जानते हैं, उसीको पूरा मानकर जानकारीका अभिमान करनेसे मनुष्य नास्तिक बन जाता है; और उसमें सन्तोष न करके जितना जानते हैं, उसमें सन्तोष न करनेसे तथा जानकारीका अभाव खटकनेसे मनुष्य जिज्ञासु बन जाता है।

तात्पर्य है कि परमात्माकी जिज्ञासा उनमें होती है, जो शास्त्र और सन्तको मानते हैं अर्थात् शास्त्रमें लिखा है, भक्तोंसे सुना है, पर अनुभव नहीं है—इसको लेकर जिज्ञासा होती है। जो वेदादिक शास्त्रोंको और भक्तोंको नहीं मानते, उनमें परमात्माकी जिज्ञासा नहीं होती। परन्तु जीव और जगत्की जिज्ञासा आस्तिक-नास्तिक सभीमें हो सकती है; क्योंकि मैं हूँ और जगत् है—इसका अनुभव सबको होता है। परमात्माका ऐसा अनुभव न होनेसे परमात्मा उनकी मान्यताका विषय होता है अर्थात् या तो वे परमात्माको मानते हैं अथवा नहीं मानते। इसीलिये आस्तिक और नास्तिक—दोनों दर्शन पाये जाते हैं।

जिज्ञासुमें 'मैं जिज्ञासु हूँ'—ऐसा अहम् अर्थात् व्यक्तित्व रहता है। जबतक अहम् रहता है, तबतक वह बातें तो सीख लेता है, पर उसको बोध नहीं होता। परन्तु सच्ची जिज्ञासा रहनेसे उसमें एक व्याकुलता पैदा होती है कि 'मैंने इतना जान लिया, पर मेरेमें कोई फर्क नहीं पड़ा, कोई विलक्षणता नहीं आयी! राग-द्वेष, हर्ष-शोक वही होते हैं, अनुकूलता-प्रतिकूलताका वही असर पड़ता है!' ऐसी व्याकुलता होनेपर वह अहम्से सर्वथा विमुख हो जाता है। अहम्से सर्वथा विमुख होनेपर जिज्ञासु नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध जिज्ञासा रह जाती है और वह जिज्ञासा ज्ञान (बोध) में परिणत हो जाती है। ज्ञान होनेपर अहम् अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृतिके कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है और चेतन स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है

अर्थात् प्राप्त हो जाता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान जड़का ही होता है, चेतनका नहीं। कारण कि चेतन तो ज्ञानस्वरूप ही है। अन्तःकरणमें जड़का महत्त्व होनेसे ही उसका अनुभव नहीं होता था। उसका अनुभव होनेपर अनुभवमात्र रह जाता है, अनुभव करनेवाला नहीं रहता; ज्ञानमात्र रह जाता है, ज्ञानी नहीं रहता।

५. अहम्‌का नाश तथा तत्त्वका अनुभव

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु , व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिका अभाव होनेपर भी जो शेष रहता है, वही तत्त्व है। उस तत्त्वका अभाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। उस तत्त्वमें हमारी स्थिति स्वतः है। इसलिये वह तत्त्व हमारेसे अलग नहीं है और हम उससे अलग नहीं हैं। वह हमारेसे दूर नहीं है और हम उससे दूर नहीं हैं। वह हमारेसे रहित नहीं है और हम उससे रहित नहीं हैं। वह हमारा त्याग नहीं कर सकता और हम उसका त्याग नहीं कर सकते। वही तत्त्व सबका प्रकाशक, सबका आधार, सबका आश्रय, सबका रक्षक, सबका उत्पादक, सबका ज्ञाता, प्रेमास्पद, अन्तरात्मा, आत्मदृक्, विश्वात्मा आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है। उस नित्यप्राप्त तत्त्वका अनुभव करनेमें कोई भी मनुष्य असमर्थ, पराधीन, अनधिकारी नहीं है। वह तत्त्व केवल उत्कट अभिलाषामात्रसे प्राप्त हो जाता है।

तत्त्वको लेकर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि जो दार्शनिक भेद हैं, उनका आग्रह ही तत्त्वके अनुभवमें बाधक है*। कारण कि तत्त्वमें कोई भेद नहीं है।

---

* जिनमें अपने मतका आग्रह होता है, वे मतवाले होते हैं। मतवालेकी बात यथार्थ नहीं होती। सन्तोंने कहा है—

मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात।
सूरज ऊगा उल्लुवा, गिनै अँधेरी रात॥
हरिया तत्त विचारियै, क्या मत सेती काम।
तत्त बसाया अमरपुर, मत का जमपुर धाम॥

जितने भी दार्शनिक भेद हैं, वे सब तभीतक हैं, जबतक अहम् है। अहम्से परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है और परिच्छिन्नतासे भेद उत्पन्न होता है। अतः जबतक अहम् रहता है, तबतक भेदका नाश नहीं होता। अहम्के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल तत्त्व रह जाता है।

अहम् क्या है—इसपर विचार करें। गीतामें आया है—'**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' (७।४); '**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**' (१३।५)। सांख्य-कारिकामें आया है—'**प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारः**'। श्रीमद्भागवतमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके अहम्का वर्णन आया है—'**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्**' (११।२४।७)। ये सब-के-सब अहम् सर्वथा जड़ (प्रकृति)के वाचक हैं। इसलिये भगवान्ने अहम्को इदंतासे कहा है; जैसे—'**एतद् यो वेत्ति**' (१३।१)। तात्पर्य है कि अहम् प्रकाश्य है और तत्त्व प्रकाशक है। अहम् ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है और तत्त्व ज्ञाता है। प्रकाश्यके साथ प्रकाशककी और ज्ञेयके साथ ज्ञाताकी सर्वथा एकता कभी हो नहीं सकती।

जीव अहम्के साथ तादात्म्य करके अपनेको 'मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करता है* । इसमें 'मैं' तो प्रकृतिका अंश है

हरिया रत्ता तत्त का, मत का रत्ता नांहि।
मतका रत्ता से फिरै, तांह तत पाया नांहि॥

* अहम्के सम्बन्धसे ही मैं, तू, यह और वह—ये चार भेद होते हैं। अहम्का सम्बन्ध न रहे तो मैं, तू, यह और वह—ये चारों नहीं रहेंगे, प्रत्युत इन सबका प्रकाशक एक 'है' रहेगा। उस 'है' में ये चारों ही नहीं हैं।

और 'हूँ' चेतनका अंश है। तात्पर्य है कि 'मैं' की 'नहीं' के साथ और 'हूँ' की 'है' के साथ एकता है। वास्तवमें 'मैं' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' का सम्बन्ध छोड़ दें तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। वह 'है' तत्त्वका स्वरूप है।

जब जीव भूलसे अपनेमें अहम्‌को स्वीकार कर लेता है, तब उसमें जड़ता, परिच्छिन्नता, विषमता, अभाव, अशान्ति, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकार आ जाते हैं। अतः अपनेमें माने हुए अहम्‌को मिटानेके लिये अपनेमें तत्त्व ('है') को स्वीकार करना है; क्योंकि तत्त्वमें अहम् नहीं है। अहम्‌के मिटनेपर जड़ता, परिच्छिन्नता, विषमता आदि विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। अपनेमें तत्त्वको स्वीकार करना भेद (द्वैतभाव) का पोषक नहीं है, प्रत्युत भेदका नाशक है; क्योंकि अपनेमें तत्त्वको स्वीकार करनेसे अहम् नहीं रहता। जब अहम् नहीं रहेगा, तो फिर अहम्‌से उत्पन्न होनेवाले भेद और विकार कैसे रहेंगे?

अहम्‌को मिटानेके लिये चाहे 'हूँ' की जगह 'है' को स्वीकार कर लें, चाहे 'हूँ' को 'है' के अर्पित कर दें अर्थात् 'है'-रूपसे सर्वव्यापी परमात्मतत्त्वकी शरण हो जायँ। ऐसा करनेसे अहम् नहीं रहेगा अर्थात् मैं-तू-यह-वह नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल 'है' रह जायगा। जैसे, चाकूको खरबूजेपर गिरायें अथवा खरबूजेको चाकूपर गिरायें, कटेगा खरबूजा ही, ऐसे ही 'है' को 'हूँ' में मिलायें अथवा 'हूँ' को 'है' में मिलायें, नाश 'हूँ' की परिच्छिन्नताका ही होगा और 'है' रह जायगा।

वास्तवमें देखा जाय तो 'है' को 'हूँ' में माननेकी अपेक्षा 'हूँ' को 'है' में मानना श्रेष्ठ है। कारण कि 'हूँ' में पहलेसे ही परिच्छिन्नताका संस्कार रहता है, इसलिये 'है' को 'हूँ' में माननेसे परिच्छिन्नता जल्दी नष्ट नहीं होती। अतः स्वरूपमें स्थित होनेकी अपेक्षा स्वकीय परमात्माका आश्रय लेना श्रेष्ठ है[१]। जब स्वरूप अहम्‌से विमुख होकर स्वकीय परमात्माकी शरणागति स्वीकार कर लेता है अर्थात् 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ, अन्य किसीका कभी किंचिन्मात्र भी नहीं हूँ'—इस वास्तविकताको स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृति) को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)। तात्पर्य है कि स्वरूपमें स्थित होनेपर तो सूक्ष्म अहम् रह सकता है, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेपर अहम् सर्वथा मिट जाता है। कारण कि भगवान् स्वयं शरणागत भक्तके अहम्‌का नाश कर देते हैं[२]। अहम्‌का नाश होनेपर देश, काल, क्रिया आदि तो नहीं रहते, पर 'है' (सत्) रह जाता है; ज्ञानी तो नहीं रहता, पर ज्ञान (चित्) रह जाता है; सुख-दुःख तो नहीं रहते, पर आनन्द रह जाता है अर्थात् एक सत्-चित्-आनन्दघन तत्त्व ही रह जाता है, जिसको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) कहा है।

१-परमात्माके सिवाय कोई स्वकीय (अपना) नहीं हो सकता; क्योंकि वास्तवमें स्वकीय वही हो सकता है, जो हमारेसे अलग न हो सके और हम उससे अलग न हो सकें। जो कभी मिले और कभी अलग हो जाय, वह स्वकीय नहीं हो सकता।

२-जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्‌का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्‌के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता

वह तत्त्व सब देश, काल, क्रिया आदिमें परिपूर्ण है, पर उसमें देश, काल, क्रिया आदि नहीं हैं। उस तत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्रिया करना वास्तवमें तत्त्वसे अलग होना है; क्योंकि क्रिया करनेसे कर्ता रहेगा और तत्त्वकी अप्राप्ति रहेगी। ऐसे ही आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होगा; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहेगा और अनात्माकी सत्ता रहेगी। तत्त्वको अप्राप्त मानेंगे, तभी तो उसकी प्राप्तिके लिये क्रिया करेंगे! अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायँगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है।

नहीं है, पर भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास अधिक है, ऐसे भक्त अहम्‌के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्‌के आश्रित होते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्‌का नाश भगवान् स्वयं करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

‘उन नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।’

‘उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूपमें रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।’

अतः वह तत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है—'**स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम**' (गीता १०। १५)।

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(मानस १। ११७। ३)

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता। अतः तत्त्वका चिन्तन करेंगे तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेंगे तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेंगे तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेंगे तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेंगे तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेंगे तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेंगे तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेंगे तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेंगे तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये न मान्यता करें, न निषेध करें; न ग्रहण करें, न त्याग करें, प्रत्युत जैसे हैं, वैसे रहें अर्थात् 'है' में स्थिर होकर बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ। चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखें, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि सत्तामात्र तत्त्व स्वतःसिद्ध है।

मैं, तू, यह, वह—इन चारोंको छोड़ दें तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस 'है' में स्थिर (चुप) हो जायँ तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करें—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' (गीता ६। २५)। यदि अपने-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उससे न राग करें, न द्वेष करें; न राजी

हों, न नाराज हों; न अच्छा मानें, न बुरा मानें। उसको न अपना मानें, न अपनेमें मानें, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दें, उससे उदासीन हो जायँ। वास्तवमें वह अपनेमें नहीं है। उससे राग-द्वेष करना द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व तत्त्वके अनुभवमें खास बाधा है—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३। ३४)।

इस प्रकार यदि एक-दो सेकेण्ड भी चुप (सत्तामात्रमें स्थिर) हो जायँ तो उससे एक शक्ति मिलेगी, जो संयोगकी रुचिका, संसारकी आसक्तिका नाश कर देगी। कारण कि अक्रिय तत्त्वमें अपार शक्ति है। सभी शक्तियाँ अक्रिय तत्त्व ('है') से ही प्रकट होती हैं, उसीमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। संसारमें प्रत्येक क्रियाके बाद अक्रियता आती है और उस अक्रियतासे ही पुनः क्रिया करनेकी शक्ति मिलती है। जैसे, बोलते-बोलते कुछ देर चुप हो जायँ तो पुनः बोलनेकी शक्ति आ जाती है। चलते-चलते थककर गिर जायँ तो कुछ देर ठहरनेसे पुनः चलनेकी शक्ति आ जाती है। दिनभर कार्य करते-करते रात्रिमें सो जायँ तो पुनः शरीरमें ताजगी, कार्य करनेकी शक्ति आ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया, वृत्ति आदिकी सन्धिमें वह अक्रिय तत्त्व झलकता है—

सब वृत्ति हैं गोपिका, साक्षी कृष्ण स्वरूप।
सन्धिमें झलकत रहे, यह है रास अनूप॥

उस अक्रिय तत्त्वमें चुप हो जायँ तो उस स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। वास्तवमें चुप स्वतः, स्वाभाविक और सहज है। इसमें कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत केवल 'नहीं' की अस्वीकृति करनी है।

६. करण-निरपेक्ष तत्त्व

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारक छः प्रकारके होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। इन छहों कारकोंकी आवश्यकता सांसारिक क्रियाओंकी सिद्धिमें ही है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारकोंकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् वहाँ कारक नहीं चलते। कारण कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती। तात्पर्य है कि सब कारक प्रकृतिमें हैं और प्रकृतिके कार्य हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कोई कारक नहीं है। कारकोंमें प्रकृतिजन्य पदार्थ और क्रियाका आश्रय लेना पड़ता है, जिससे अभ्यासकी सिद्धि होती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, तत्त्वका अनुभव नहीं होता; क्योंकि तत्त्वमें अवस्था नहीं है। तत्त्वका अनुभव तो विवेकके द्वारा होता है। यह विवेक प्राणिमात्रको स्वतः प्राप्त है। परन्तु मनुष्यके सिवाय अन्य प्राणियोंमें जो विवेक है, उससे उनका शरीर-निर्वाह तो हो जाता है, पर तत्त्वज्ञान नहीं होता। कारण कि विवेकका उपयोग वे केवल शरीर-निर्वाहमें ही करते हैं। उससे आगे (शरीरसे अतीत तत्त्वमें) उनकी जिज्ञासा नहीं होती *। मनुष्य अपने

---

* अन्य प्राणियोंमें यह विवेक स्थावरकी अपेक्षा जंगममें अधिक रहता है। जंगममें भी जलचरकी अपेक्षा थलचर प्राणियोंमें और थलचरकी अपेक्षा नभचर प्राणियोंमें

विवेकका सदुपयोग करके, विवेकका आदर करके देवताओंसे भी ऊँचा उठ सकता है, भगवान्‌को भी अपने वशमें कर सकता है। परन्तु भोगेच्छाके कारण अपने विवेकका दुरुपयोग करके, विवेकका अनादर करके पशुओंसे भी नीचा गिर सकता है और चौरासी लाख योनियों तथा नरकोंमें जा सकता है*! इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने विवेकका आदर करे, विवेक-विरोधी कोई कार्य न करे।

अधिक विवेक रहता है। परन्तु उनमें यह विवेक शरीर-निर्वाहतक ही सीमित रहता है, जिससे वे खाद्य-अखाद्य, सरदी-गरमी, परिश्रम-आराम, संयोग-वियोग आदिकी भिन्नताको जान लेते हैं। परन्तु सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक उनमें जाग्रत् नहीं होता। कारण कि उनमें विवेकके योग्य बुद्धि नहीं है और अधिकार भी नहीं है। यह विवेक मनुष्यमें ही जाग्रत् होता है। कारण कि मनुष्यके सिवाय अन्य योनियाँ भोगप्रधान हैं। मनुष्य अपने विवेकको महत्त्व देकर शरीरसे अतीत तत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है, जन्म-मरणके बन्धनसे छूट सकता है। अतः मनुष्यपर अपना उद्धार करनेकी विशेष जिम्मेवारी है; क्योंकि जिसके पास इनकम (आय) है, उसीपर इनकम टैक्स लगता है।

* मनुष्य होकर भी अपने विवेकका आदर न करनेसे जैसा पतन होता है, वैसा पतन पशुका भी नहीं होता! झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी, अन्याय, हिंसा आदि पाप मनुष्य ही करता है, पशु नहीं करते। पशु नये पाप नहीं करते, प्रत्युत पूर्वजन्ममें किये गये पापोंका ही फल भोगकर उन्नतिकी ओर जाते हैं, पर मनुष्य सुख-लोलुपताके कारण नये-नये पाप करके पतनकी ओर जाता है। अपने विवेकको वह नये-नये पापोंकी खोज करनेमें ही लगा देता है। भोगासक्तिके कारण उसका विवेक इन्द्रियोंके भोगोंतक ही सीमित रहता है, उससे ऊँचा नहीं उठता—'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः' (गीता १६।११)। इस प्रकार पशु तो अपने कर्मोंका फल भोगकर मनुष्ययोनिकी तरफ आते हैं, पर मनुष्य नये-नये पाप करके पशुयोनिसे भी नीचे (नरकोंमें) चले जाते हैं और जा रहे हैं! इसलिये ऐसे मनुष्यके संगको नरकवाससे भी

प्राणिमात्रमें अपरा (जड़) और पना (चेतन) दोनों प्रकृतियाँ हैं। 'अहम्' अपरा प्रकृति है* और 'जीव' परा प्रकृति है। अहम् और जीव अर्थात् जड़ और चेतनके सम्बन्धका ही नाम चिज्जड़ग्रन्थि है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

(मानस ७।११७।२)

जड़-चेतनकी यह ग्रन्थि मिथ्या है, सत्य नहीं है, क्योंकि जड़ और चेतन एक-दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध हैं। चेतन प्रकाशक है, जड़ प्रकाश्य है। चेतन अपरिवर्तनशील है, जड़ परिवर्तनशील है। चेतन कभी मिटता नहीं, जड़ कभी टिकता नहीं। दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परन्तु अलग-अलग स्वभाव होते हुए भी दोनोंका एक-दूसरेसे वैर-विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, चेतन जड़का प्रकाशक है, सहायक है। असत्की सिद्धि भी

बुरा कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

(मानस ५।४६।४)

कारण कि नरकोंमें तो पाप नष्ट होकर शुद्धि आती है, पर दुष्टोंके संगसे अशुद्धि आती है, पाप बनते हैं।

* गीतामें भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिके आठ भेद बताये हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार (७।४-५)। इन सबमें बन्धनका मुख्य कारण 'अहंकार' ही है। पृथ्वी, जल, तेज आदिमें परस्पर बहुत तारतम्य होनेपर भी वे सब एक जातिके (अपरा) ही हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहंकार है अर्थात् अहंकार भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ है ! इस रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य करानेके लिये ही भगवान्‌ने अहंकारको 'क्षेत्र' बताते हुए 'एतत्' पदका प्रयोग किया है—'एतद्यो वेत्ति' (१३।१)। इस प्रकार 'अहम्' को इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपने स्वरूपसे अलग है और जाननेमें आनेवाला है। कारण कि इदम् कभी स्वयं (स्वरूप) नहीं होता और स्वयं कभी इदम् नहीं होता। जीव भूलसे इस 'अहम्'के साथ एकता कर लेता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है,

सत्-रूप चेतनसे ही होती है। चेतन ही असत्को सत्ता देता है। हाँ, तत्त्वकी जिज्ञासाका असत् (जड़) से वैर है; क्योंकि जिज्ञासासे जड़के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये एक दृष्टिसे तत्त्वकी अपेक्षा तत्त्वकी जिज्ञासा श्रेष्ठ है। भोगेच्छा तो संसार (पदार्थ और क्रिया)से सम्बन्ध जोड़ती है, पर जिज्ञासा संसारसे सम्बन्ध तोड़ती है। भोगेच्छामें जड़ता (अहंकार) की मुख्यता रहती है और जिज्ञासामें चेतनकी मुख्यता रहती है। तात्पर्य है कि मनुष्य जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी, भोगोंकी इच्छा करता है और चेतन-अंशकी प्रधानतासे अपने उद्धारकी, मुक्तिकी, परमात्मतत्त्वकी इच्छा (जिज्ञासा) करता है।

मनुष्य जबतक जड़-अंश (अहंता) की प्रधानतासे संसारके भोगोंमें लिप्त रहेगा, तबतक उसको कभी परमशान्ति, परम आनन्द नहीं मिलेगा। ब्रह्माका पद मिल जाय तो भी उसको परमशान्ति नहीं मिलेगी। परिवर्तनशील वस्तुसे अपरिवर्तनशीलको शान्ति कैसे मिल सकती है? असत्से सत्की पूर्ति कैसे हो सकती है? परन्तु जब मनुष्य चेतनकी प्रधानताको लेकर (जड़ताका त्याग करते हुए) चलेगा, तब जड़-अंश (अहम्) मिट जायगा और शुद्ध चेतन रह जायगा। जड़-अंश मिटनेसे आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जायगा। आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर पूर्णता हो जायगी* अर्थात् वह कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। वास्तवमें पूर्णता तो स्वतःसिद्ध है।

जिससे उसका आकर्षण जड़ताकी ओर हो जाता है और वह जड़ताके वशमें हो जाता है।

* जबतक आसक्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता, तबतक ऊँची-से-ऊँची बातें कर सकते हैं, बढ़िया विवेचन कर सकते हैं, व्याख्यान दे सकते हैं, पुस्तकें लिख सकते हैं; परन्तु परमशान्तिकी प्राप्ति नहीं कर सकते।

जड़के सम्बन्धसे ही पूर्णताका अनुभव नहीं होता। जड़के सम्बन्धका अत्यन्ताभाव होनेपर, जड़से सर्वथा असंग होनेपर स्वतः पूर्णताका अनुभव हो जाता है, जो पहलेसे ही है। परन्तु केवल परमात्मतत्त्वकी, स्वरूपके बोधकी जिज्ञासा होनेसे; भगवान्‌के प्रेमकी, दर्शनकी अभिलाषा होनेसे ही यह होगा। तात्पर्य है कि जिज्ञासा होनेसे विवेक विशेषतासे जाग्रत् होगा, जिससे जड़तासे असंगता हो जायगी। असंगता होते ही जड़की निवृत्ति अर्थात् अहंकारका अभाव हो जायगा। अहंकारका अभाव होनेसे ममताका भी स्वतः अभाव हो जायगा* और अपने असंग स्वरूपका अनुभव हो जायगा। इसमें कोई कारक काम नहीं करेगा।

सब कारकोंमें 'कर्ता' मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है— '**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच हेतु (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव) बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (अपने स्वरूप)को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह

* जब चेतन जड़तासे सम्बन्ध जोड़ता है, तब उसमें 'मैं-पन' उत्पन्न होता है। शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन (अहंता और ममता) दोनों होते हैं तथा अन्य पदार्थोंमें मेरा-पन होता है। परन्तु पदार्थोंको लेकर अपनेमें अभिमान करनेसे मैं-पन भी साथमें मिल जाता है और दृढ़ हो जाता है; जैसे—मैं धनवान् हूँ आदि। [अपनेमें विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिका आरोप करनेसे तो 'अभिमान' होता है और धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदिको लेकर अपनेमें बड़प्पनका आरोप करनेसे 'दर्प' (घमण्ड) होता है।] जड़-अंश हटनेसे मैं-पन और मेरा-पन नहीं रहते, स्वरूप रह जाता है। स्वरूपमें मैं-पन और मेरा-पन दोनों ही नहीं हैं।

दुर्मति है[1]। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। जब स्वरूप कर्ता नहीं है तो फिर कर्ता कौन होता है? इसको भगवान्‌ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (१३। २९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं (३। २७-२८; १४। २३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (५। ९)। तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये अपने चेतन स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८) **तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते** (गीता ३। २८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है (जो वास्तवमें है)[2], तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है[3]।

१-तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (१८। १६)

२-स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—'निर्गुणत्वात्' (गीता १३। ३१)। गुण प्रकाश्य हैं, आत्मा प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, आत्मा अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, आत्मा नित्य है।

३-नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (गीता १४। १९)

गीतामें भगवान्‌ने कर्तापनमें प्रकृतिको और भोक्तापनमें पुरुषको हेतु बताया है[१]। पुरुष (चेतन)को भोक्तापनमें हेतु क्यों बताया? सुख-दुःखका अनुभव अर्थात् भोग चेतनमें ही हो सकता है, जड़में नहीं। सुखी-दुःखी चेतन ही होता है। क्रिया तो जड़में होती है, पर क्रियाका फल (सुखी-दुःखी होना) पुरुषमें होता है। परन्तु वास्तवमें प्रकृतिस्थ अर्थात् अहम्‌में स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१) तात्पर्य है कि अहंकारका सम्बन्ध रहनेसे ही पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता बनता है। यदि अहंकारका सम्बन्ध न रहे तो पुरुष सुख-दुःखका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् वह सुखी-दुःखी न होकर अपने स्वतःसिद्ध आनन्दस्वरूपमें स्थित रहता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। अतः भोक्तापन भी केवल माना हुआ है, वास्तवमें नहीं है। तात्पर्य है कि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व पहलेसे ही नहीं हैं, इसीलिये ये मिटते हैं[२]। यदि चेतनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व होते तो चेतनके रहते हुए वे कभी मिटते ही नहीं।

जब स्वरूपमें कर्तृत्व ही नहीं है, 'कर्ता'-रूपी कारकके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, तब इसका सम्बन्ध अन्य कारकोंके साथ कैसे होगा? अतः पहले साधकको सिद्धान्तसे यह निर्णय करना होगा कि मेरे स्वरूपमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अहंता-ममता नहीं है। यद्यपि यह

१-कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (गीता १३। २०)

२-यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)

निर्णय बुद्धि (करण)में दीखता है, तथापि 'ये मेरेमें नहीं हैं'—यह अनुभव स्वयंको होता है। स्वयंका यह अनुभव करना करण-निरपेक्ष साधन है। तात्पर्य है कि पहले बुद्धिसे विचार होता है। विचारके बाद बुद्धिका निर्णय होता है कि मेरेमें कारकमात्रका अभाव है। परन्तु इस अभावका अनुभव करनेवाला स्वयं है। स्वयंको होनेवाले इस अनुभवमें कोई करण नहीं है, प्रत्युत करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है।

जिस जगह क्रिया होती है, उसको अधिष्ठान (अधिकरण) कहते हैं। परन्तु जहाँ स्वयं अधिष्ठान है, वहाँ क्रिया नहीं है अर्थात् स्वयं किसी भी क्रियाका अधिष्ठान नहीं है। स्वयंमें सबका आरोप होता है, क्योंकि आरोप होनेकी जगह तत्त्व ही है। तत्त्वके सिवाय आरोपित वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये स्वयंको सबका अधिष्ठान, आश्रय, आधार, प्रकाशक कहा जाता है।

इस प्रकार स्वयंमें कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण आदि कोई भी कारक नहीं है* । अतः स्वरूपका बोध अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है।

---

* कारकोंमें कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण—ये चारों तो क्रियामें विकृत (परिणत) होते हैं, पर सम्प्रदान और अपादान क्रियामें विकृत नहीं होते, प्रत्युत क्रियामें सहायकमात्र होते हैं, इसलिये इनमें कर्मकर्तृप्रयोग नहीं होता। जैसे, 'सुपात्रको दान दिया'—यह सम्प्रदान कारक है। दान देनेसे दान लेनेवालेमें कोई विकृति नहीं आती। यदि कोई लेनेवाला न हो तो दान सिद्ध नहीं होता, इसलिये दानमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गया है। ऐसे ही 'गाँवसे आया'—यह अपादान कारक है। गाँवसे आनेपर गाँवमें कोई विकृति नहीं आती। परन्तु आनेमें सहायक होनेसे इसको कारक कहा गयाहै।

कर्म चार प्रकारके होते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य [कहीं-कहीं निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—ये तीन प्रकार बताये गये हैं]। इनमेंसे 'आप्य' कर्ममें भी कोई विकृति नहीं आती; जैसे—'मैंने धन प्राप्त किया' तो धनमें कोई विकृति नहीं आयी।

७. असत्‌का वर्णन

जिसका किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें अभाव है, उसका कहीं भी भाव नहीं है अर्थात् उसका सदा ही अभाव है और वह असत् है—‘**नासतो विद्यते भावः**’ (गीता २। १६)।

जो किसी देशमें है और किसी देशमें नहीं है, वह किसी भी देशमें नहीं है। जो किसी कालमें है और किसी कालमें नहीं है, वह किसी भी कालमें नहीं है। जो किसी क्रियामें है और किसी क्रियामें नहीं है, वह किसी भी क्रियामें नहीं है। जो किसी वस्तुमें है और किसी वस्तुमें नहीं है, वह किसी भी वस्तुमें नहीं है। जो किसी व्यक्तिमें है और किसी व्यक्तिमें नहीं है, वह किसी भी व्यक्तिमें नहीं है। जो किसी अवस्थामें है और किसी अवस्थामें नहीं है, वह किसी भी अवस्थामें नहीं है। जो किसी परिस्थितिमें है और किसी परिस्थितिमें नहीं है, वह किसी भी परिस्थितिमें नहीं है। जो किसी घटनामें है और किसी घटनामें नहीं है, वह किसी भी घटनामें नहीं है अर्थात् उसका सभी घटनाओंमें अभाव है।

जो किसी शरीरमें है और किसी शरीरमें नहीं है, वह किसी भी शरीरमें नहीं है। जो किसी वर्णमें है और किसी वर्णमें नहीं है, वह किसी भी वर्णमें नहीं है। जो किसी जातिमें है और किसी जातिमें नहीं है, वह किसी भी जातिमें नहीं है। जो किसी आश्रममें है और किसी आश्रममें नहीं है,

वह किसी भी आश्रममें नहीं है। जो किसी समुदायमें है और किसी समुदायमें नहीं है, वह किसी भी समुदायमें नहीं है; यदि है तो वह आगन्तुक है।

जो कर्तृत्व किसी व्यक्तिमें है और किसी व्यक्तिमें नहीं है, वह किसीमें भी नहीं है अर्थात् वास्तवमें कर्तृत्व है ही नहीं, केवल माना हुआ है। काम, क्रोध और लोभवृत्ति कभी होती हैं और कभी नहीं होतीं तो वस्तुतः उनका नहीं होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार मोह, मद और मत्सरवृत्ति कभी होती हैं और कभी नहीं होतीं तो वस्तुतः उनका नहीं होना ही सिद्ध होता है अर्थात् उनका सदा ही अभाव है। यदि ये वृत्तियाँ वास्तवमें होतीं तो कभी घटती अथवा मिटती नहीं।

वास्तवमें काम-क्रोधादि विकारोंकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। विकार और सत्ता परस्पर विरोधी हैं। जो विकार है, उसकी सत्ता कैसे? और जिसकी सत्ता है, उसमें विकार कैसे? परन्तु अज्ञानवश अपनेमें काम-क्रोधादि विकारोंकी सत्ता माननेसे वे अपनेमें दीखने लग जाते हैं। उनको अपनेमें मानकर उनको मिटानेकी चेष्टा करते हैं तो उनकी सत्ता और दृढ़ होती है*। इसी तरह मनको सत्ता दी है, तभी स्फुरणाएँ और संकल्प हैं। स्फुरणा और

---

* यहाँ एक शंका होती है कि यदि काम-क्रोधादि विकारोंकी सत्ता ही नहीं है तो फिर उनको अपनेमें मान लेनेसे साधकका पतन कैसे हो जाता है? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई भयंकर स्वप्न आता है तो नींद खुलनेके बाद भी हृदयमें धड़कन, शरीरमें कँपकँपी आदि होते हैं अर्थात् स्वप्नकी घटनाका प्रभाव जाग्रत्‌में पड़ता है, ऐसे ही सत्ता न होनेपर भी अपनेमें मान लेनेके कारण काम-क्रोधादि विकार साधकका पतन कर देते हैं। पतन होनेका अर्थ है—पहले जैसी स्थिति थी, वैसी स्थिति न रहना;

संकल्प परिवर्तनशील हैं। सत्तामें परिवर्तन नहीं होता और जिसमें परिवर्तन होता है, उसकी सत्ता नहीं होती।

जिसका सदा ही अभाव है, उसकी सत्ता भूलसे मानी हुई, दी हुई है। मानी हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती, कल्पना की हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती, दी हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती। इसी तरह संसारकी सुनी हुई, कही हुई और चिन्तन की हुई सत्ताकी सत्ता नहीं होती; क्योंकि वास्तवमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। परन्तु स्वयं सत्-स्वरूप है; अतः यह जिसकी सत्ता मान लेता है, उसकी सत्ता दीखने लग जाती है; जैसे—अग्निमें लकड़ी, कोयला, कंकड़, पत्थर, ठीकरी आदि जो भी रखें, वही चमकने लग जाता है।

असत्का भान तो हो सकता है, पर उसकी सत्ता नहीं हो सकती। कारण कि जिसका कभी भी और कहीं भी अभाव है, उसका सदा-सर्वत्र अभाव-ही-अभाव है। परन्तु सत्-तत्त्व परमात्माका किसी भी देशमें अभाव नहीं है, किसी भी कालमें अभाव नहीं है, किसी भी क्रियामें अभाव नहीं है, किसी भी वस्तुमें अभाव नहीं है, किसी भी व्यक्तिमें अभाव नहीं है, किसी भी अवस्थामें अभाव नहीं है, किसी भी परिस्थितिमें अभाव नहीं है, किसी भी घटनामें अभाव नहीं है। जिसका कभी भी और कहीं भी अभाव नहीं है, उसका सदा-सर्वत्र भाव-ही-भाव है—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि तो पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और

साधकपनेका न रहना। जब साधकपना नहीं रहेगा तो फिर साध्यकी प्राप्ति कैसे होगी? जैसे पतनकी बात है, ऐसे ही उत्थानकी भी बात है। अद्वैत तत्त्वमें गुरु-शिष्यका भेद नहीं है, पर गुरु-शिष्यके संवादसे शिष्यको तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।

वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परंतु परमात्मा पहले भी था, पीछे भी रहेगा और वर्तमानमें भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। परमात्मामें कभी फर्क था नहीं, कभी फर्क होगा नहीं, कभी फर्क है नहीं और कभी फर्क हो सकता नहीं। वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। वह किसीकी दृष्टिमें है और किसीकी दृष्टिमें नहीं है तो इससे उसका अभाव सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत यह तो दृष्टिदोष है, दृष्टिका अभाव है, जिससे वह होता हुआ भी नहींकी तरह दीखता है।

संसारकी सहज-स्वाभाविक तथा नित्य-निरन्तर निवृत्ति है और परमात्माकी सहज-स्वाभाविक तथा नित्य-निरन्तर प्राप्ति है। संसारकी प्रतीति है, प्राप्ति नहीं। प्रतीतिकी प्राप्ति नहीं होती और प्राप्तकी प्रतीति नहीं होती। प्रतीतिकी सर्वथा निवृत्ति है। इस निवृत्तिका कभी नाश नहीं होता अर्थात् संसारके अभावका कभी अभाव नहीं होता, प्रत्युत नित्य ही अभाव रहता है।

जिनका संसारमें राग है, उन्हींको यह कहना पड़ता है कि 'संसार नहीं है, परमात्मा है'। जिनका संसारमें राग नहीं है, उनको केवल 'परमात्मा है' इतना ही कहना पड़ता है। जैसे, रस्सीमें साँप दीखे तो सभय व्यक्तिसे कहते हैं कि 'साँप नहीं है, रस्सी है'; परन्तु निर्भय व्यक्तिसे केवल 'रस्सी है' यही कहना पड़ता है। तात्पर्य है कि संसारमें राग होनेपर, संसारकी सत्ता माननेपर ही संसारकी निवृत्ति करनी पड़ती है, नहीं तो जिसकी सहज-स्वाभाविक, नित्य-निरन्तर निवृत्ति है, उसकी निवृत्ति कहना बनता ही नहीं!

संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। जब अज्ञताके

कारण संसारकी सत्ता मान लेते हैं, तब पदार्थको लेकर संयोग (पाने)की रुचि और क्रियाको लेकर करनेकी रुचि होती है। पदार्थोंके संयोगकी और करनेकी रुचि होनेसे नित्य निवृत्तिमें भी प्रवृत्ति प्रतीत होती है। परन्तु प्रवृत्ति प्रतीत होनेपर भी निवृत्ति ज्यों-की-त्यों रहती है। अतः पदार्थोंके संयोगकी और करनेकी रुचिके परिणाममें अभावके सिवाय कुछ नहीं मिलता, और अभावको कोई भी नहीं चाहता।

जीवका जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी तरफ भी आकर्षण होता है और चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी तरफ भी आकर्षण होता है। दोनोंमें आकर्षण होते हुए भी संसारके आकर्षणसे परिणाममें अभाव ही मिलता है अर्थात् कुछ भी नहीं मिलता और परमात्माके आकर्षणसे परिणाममें प्रेम मिलता है, परमात्मा मिलता है, जिसके मिलनेसे कुछ भी मिलना बाकी नहीं रहता है। प्रेम तथा बोध—दोनों एक ही हैं। बोधके बिना प्रेम 'आसक्ति' है; क्योंकि संसारके अभावका बोध न होनेपर संसारमें आसक्ति होती है, प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना बोध 'शून्य' है; क्योंकि संसारका अभाव करते-करते अभाव (शून्य) ही शेष रह जाता है।

असत्‌से अलग हुए बिना असत्‌का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें हम असत्‌से सर्वथा अलग हैं। सत्‌से अभिन्न हुए बिना सत्‌का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें (स्वरूपसे) हम सत्‌से सर्वथा अभिन्न हैं। असत्‌से अलग होनेका अर्थ है—असत्‌में राग न होना और सत्‌से अभिन्न होनेका अर्थ है—सत्‌में प्रियता होना।

सदा-सर्वदा निवृत्त रहनेपर भी असत्‌का राग, आकर्षण, महत्त्वबुद्धि, सुखबुद्धि रहते हुए असत्‌का ज्ञान अर्थात् निवृत्ति नहीं होती और सदा-सर्वदा प्राप्त रहनेपर भी सत्‌में प्रियता हुए बिना सत्‌का ज्ञान अर्थात् प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत केवल चर्चा अर्थात् सीखनामात्र होता है। सीखनेमात्रसे अपनी जानकारीका अभिमान तो हो सकता है, पर अनुभव नहीं हो सकता।

असत्‌में राग न होनेसे असत्‌का ज्ञान हो जाता है। असत्‌का ज्ञान होते ही अर्थात् असत्‌को असत्-(अभाव) रूपसे जानते ही असत्‌की निवृत्ति तथा सत्‌की प्राप्ति हो जाती है और सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है। सत्‌में प्रियता होनेसे सत्‌का ज्ञान हो जाता है। सत्‌का ज्ञान होते ही अर्थात् सत्‌को सत्-(भाव) रूपसे जानते ही सत्‌की प्राप्ति हो जाती है और आनन्द मिल जाता है।

असत्‌की निवृत्ति और सत्‌की प्राप्ति—ये दोनों एक ही हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण दुःखोंका नाश और आनन्दकी प्राप्ति भी एक ही हैं, केवल कहनेमें भेद है। कारण कि वास्तवमें असत् कभी था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं, पर सत् (परमात्मा) सदा ही था, है और रहेगा। सत्‌को मानें या न मानें, जानें या न जानें, स्वीकार करें या न करें, अनुभव करें या न करें, सत्‌की सत्ता सदा विद्यमान रहती है।

८. वर्णनातीतका वर्णन

[साधकको चाहिये कि वह एकान्तमें बैठकर शुद्ध वृत्तिसे इस लेखको पढ़े। केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर अर्थ एवं तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखते हुए पढ़े, पढ़कर विचार करे और विचार करके बाहर-भीतरसे चुप हो जाय तो तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिरता जाग्रत् हो जायगी अर्थात् सहजावस्थाका अनुभव हो जायगा और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।*]

सत्-तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता; क्योंकि वह मन (बुद्धि) और वाणीका विषय नहीं है—'**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' (तैत्तिरीय० २। ९), '**मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥**' (मानस १। ३४१। ४)। जहाँ वर्णन है, वहाँ तत्त्व नहीं है और जहाँ तत्त्व है, वहाँ वर्णन नहीं है। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य नहीं है, इसलिये केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये ही उसका वर्णन किया जाता है। परन्तु जब उसका लक्ष्य न करके कोरा सीख लेते हैं, तब वर्णन-ही-वर्णन होता है, तत्त्व नहीं मिलता। उसका लक्ष्य रखकर वर्णन करनेसे वर्णन तो नहीं रहता, पर तत्त्व रह जाता है। तात्पर्य है कि उसका वर्णन करते-करते जब वाणी रुक

---

* यहाँ प्रश्न होता है कि जो वर्णनातीत है, उसका वर्णन कैसे? और जिसका वर्णन होता है, वह वर्णनातीत कैसे? इसका उत्तर है कि यद्यपि तत्त्व वर्णनातीत है, तथापि उसका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ उसका वर्णन किया गया है। गीतामें भी भगवान्ने '**अचिन्त्यरूपं अनुस्मरेत्**' (८। ९) पदोंसे अचिन्त्यका चिन्तन करनेकी बात कही है तो जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन कैसे? और जिसका चिन्तन होता है, वह अचिन्त्य कैसे? इसका तात्पर्य है कि यद्यपि परमात्मा अचिन्त्य है, तथापि चिन्तन

जाती है, उसका चिन्तन करते-करते जब मन रुक जाता है, तब स्वत: वह तत्त्व रह जाता है और प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल अप्राप्तिका वहम मिट जाता है।

प्रकृतिजन्य कोई भी क्रिया, पदार्थ, वृत्ति, चिन्तन उस तत्त्वतक नहीं पहुँचता। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वतक प्रकृतिजन्य पदार्थ कैसे पहुँच सकता है? अत: तत्त्वका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति भी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कही जाती है अर्थात् उसको अप्राप्त माना है, इसलिये उसकी प्राप्ति कही जाती है। वास्तवमें वह तत्त्व स्वत: सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। अप्राप्तिकी तो मान्यतामात्र है। असत्‌को सत् माननेसे, अप्राप्तको प्राप्त माननेसे ही वह तत्त्व अप्राप्तकी तरह दीखने लग गया। असत्‌को जितनी सत्ता देंगे अर्थात् महत्त्व देंगे, उतनी ही उसकी सत्ता दीखेगी और वह तत्त्व अप्राप्त दीखेगा। अप्राप्त दीखनेपर भी वह नित्यप्राप्त है अर्थात् न दीखनेपर भी तत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त है कि प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जिसकी सदासे निवृत्ति है। तात्पर्य है कि मिलेगा वही, जो मिला हुआ है और बिछुड़ेगा वही, जो बिछुड़ा हुआ है। नया कुछ भी मिलनेवाला

करनेवाला उसको लक्ष्य बना सकता है। इसी तरह गीतामें गुणातीतके लक्षण बताये गये हैं (१४। २१-२५) तो जो गुणातीत है, उसके लक्षण कैसे? और जिसके लक्षण हैं, वह गुणातीत कैसे ? क्योंकि लक्षण तो गुणोंसे ही होते हैं। इसका तात्पर्य है कि लोग पहले जिस शरीर और अन्त:करणमें गुणातीतकी स्थिति मानते थे, उसी शरीर और अन्त:करणके लक्षणोंका वे उसमें आरोप करते हैं कि यह गुणातीत मनुष्य है। अत: वे लक्षण गुणातीत मनुष्यको पहचाननेके संकेतमात्र हैं। ऐसे ही समतामें स्थित मनुष्यकी स्थिति पहचाननेके लिये बताया कि जिसका मन समतामें स्थित है, वह समरूप ब्रह्ममें ही स्थित है (५।१९)।

और बिछुड़नेवाला नहीं है। नया मिलेगा तो वह ठहरेगा नहीं, बिछुड़ ही जायगा।

जितने भी भेद हैं, सब-के-सब प्रकृति (असत्)में ही हैं। तत्त्वमें किंचिन्मात्र भी कोई भेद नहीं है। जब प्राकृत पदार्थोंकी सत्ता मानते हुए, उनको महत्त्व देते हुए उस तत्त्वका वर्णन करते हैं, तब वह तत्त्व केवल बुद्धिका विषय हो जाता है और उसमें भेद दीखने लग जाता है[१]। सभी भेद सापेक्ष होते हैं। अपेक्षा छोड़ें तो कोई भेद नहीं रहता, एक निरपेक्ष तत्त्व रह जाता है। जैसे, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वहाँ नित्यप्रकाश है। समुद्रकी अपेक्षा तरंग है और तरंगकी अपेक्षा समुद्र है, पर जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है।[२] ऐसे ही गुणोंकी अपेक्षासे उस तत्त्वको सगुण-निर्गुण और आकारकी

१-शास्त्रोंमें तत्त्वका जो वर्णन आता है, वह हमारी दृष्टिसे है। हमने असत्‌की सत्ता मान रखी है, इसलिये शास्त्र हमारी दृष्टिके अनुसार, हमारी भाषामें असत्‌की निवृत्ति और सत्-तत्त्वका वर्णन करते हैं। यही कारण है कि दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं। अनेक दर्शन होते हुए भी तत्त्व एक है। जबतक द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक और दर्शन हैं, तबतक तत्त्वके वर्णनमें भेद है। जबतक भेद है, तबतक तत्त्व नहीं है; क्योंकि तत्त्वमें भेद नहीं है। दूसरे शब्दोंमें जबतक अहम् (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) है, तबतक भेद है। अहम्‌के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल एक तत्त्व ('है') रह जाता है।

२-ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—पहला, ईश्वर समुद्र है और मैं उसकी तरंग हूँ अर्थात् तरंग समुद्रकी है; और दूसरा, मेरा स्वरूप समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है— यह कहना तो ठीक दीखता है, पर समुद्र तरंगका है—यह कहना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि अर्थात् बन्धन) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा ! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व)का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्‌के मिटनेसे ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

अपेक्षासे उस तत्त्वको साकार-निराकार कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न सगुण है, न निर्गुण है; न साकार है, न निराकार है।

वह एक ही तत्त्व प्रकाश्यकी अपेक्षासे 'प्रकाशक' आश्रितकी अपेक्षासे 'आश्रय' और आधेयकी अपेक्षासे 'आधार' कहा जाता है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो व्याप्य, विनाशी एवं अनेक हैं, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार व्यापक, अविनाशी एवं एक है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो नहीं रहेंगे, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार रह जायगा; किन्तु प्रकाशक, आश्रय और आधार—ये नाम नहीं रहेंगे, प्रत्युत एक तत्त्व रहेगा। तात्पर्य है कि तत्त्व न प्रकाश्य है, न प्रकाशक है; न आश्रित है, न आश्रय है; न आधेय है, न आधार है।

वह एक ही तत्त्व शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा और साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी कहलाता है। तात्पर्य है कि तत्त्व न शरीर है, न शरीरी है; न क्षेत्र है, न क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ है; न क्षर है, न अक्षर है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है।

वह तत्त्व अनेककी अपेक्षासे एक है। जड़की अपेक्षासे वह चेतन है। असत्‌की अपेक्षासे वह सत् है। अभावकी अपेक्षासे वह भावरूप है। अनित्यकी अपेक्षासे वह नित्य है। उत्पन्न वस्तुकी अपेक्षासे वह अनुत्पन्न है। नाशवान्‌की अपेक्षासे वह अविनाशी है। असत्-जड़-दुःखरूप संसारकी अपेक्षासे वह

उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

सत्-चित्-आनन्दरूप है। प्राकृत पदार्थोंकी अपेक्षासे वह प्राप्त अथवा अप्राप्त है। कठिनताकी अपेक्षासे उसको सुगम कहते हैं, नहीं तो जो नित्यप्राप्त है, उसमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? तात्पर्य है कि तत्त्व न अनेक है, न एक है; न जड़ है, न चेतन है; न असत् है न सत् है; न अभावरूप है, न भावरूप है; न अनित्य है, न नित्य है; न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है; न नाशवान् है,न अविनाशी है; न असत्-जड़-दु:खरूप है, न सत्-चित्-आनन्दरूप है; न प्राप्त है, न अप्राप्त है; न कठिन है, न सुगम है अर्थात् शब्दोंके द्वारा उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता।

वह तत्त्व परत:सिद्धकी अपेक्षासे स्वत:सिद्ध है। अस्वाभाविककी अपेक्षासे वह स्वाभाविक है। अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकका आरोप कर लिया तो 'बन्धन' हो गया, स्वाभाविकमें अस्वाभाविकताका आरोप कर लिया तो 'संसार' हो गया और अस्वाभाविकताको अस्वीकार करके स्वाभाविकका अनुभव किया तो 'तत्त्व' हो गया और अतत्त्वसे मुक्ति हो गयी अर्थात् है ज्यों हो गया! तत्त्व न परत:सिद्ध है, न स्वत:सिद्ध है; न स्वाभाविक है, न अस्वाभाविक है। परत:सिद्ध-स्वत:सिद्ध, स्वाभाविक-अस्वाभाविक तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है।

उस तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें वह 'नहीं' की अपेक्षासे 'है' नहीं है, प्रत्युत निरपेक्ष है। अगर हम 'नहीं' की सत्ता मानें तो फिर उसको 'नहीं' कहना बनता ही नहीं; क्योंकि 'नहीं' और सत्तामें परस्परविरोध है अर्थात् जो 'नहीं' है, उसकी सत्ता कैसे और जिसकी सत्ता है, वह 'नहीं' कैसे? वास्तवमें 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है। परन्तु जब भूलसे 'नहीं' की सत्ता मान लेते

हैं, तब उस भूलको मिटानेके लिये 'यह नहीं है, तत्त्व है' ऐसा कहते हैं। जब 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है, तब तत्त्वको 'है' कहना भी बनता नहीं । तात्पर्य है कि 'नहीं' की अपेक्षासे ही तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न 'नहीं' है और न 'है' है।

गीतामें आया है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ (१३।१२)

'जो ज्ञेय है, उस तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह तत्त्व अनादि और परब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है।'*

तात्पर्य है कि उस तत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है,न असत् है। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक (लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला) है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं।

* गीतामें परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आता है—

(१) परमात्मा सत् भी है और असत् भी है—'**सदसच्चाहम्**' (९।१९); (२) परमात्मा सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्से पर भी है—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११।३७); (३) परमात्मा न सत् है और न असत् है—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३।१२)। इसका तात्पर्य यही है कि वास्तवमें परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह मन, बुद्धि और शब्दसे अतीत है।

सन्तोंकी वाणीमें भी आया है कि न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न तुरीय है; न बन्धन है, न मोक्ष है आदि-आदि। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। निरपेक्ष भी वास्तवमें सापेक्षकी अपेक्षासे है। तत्त्व भी वास्तवमें अतत्त्वकी अपेक्षासे कहा जाता है; अतः उसको किस नामसे कहें ? उसका कोई नाम नहीं है अर्थात् वहाँ शब्दकी गति नहीं है। शब्दसे केवल उसका लक्ष्य होता है* ।

तत्त्व न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है; न परोक्ष है, न अपरोक्ष है; न छोटा है, न बड़ा है; न अन्दर है, न बाहर है; न ऊपर है, न नीचे है; न नजदीक है, न दूर है; न भेद है, न अभेद है, न भेदाभेद है; न भिन्न है, न अभिन्न है, न भिन्नाभिन्न है। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। जैसे सूर्यमें न प्रकाश है, न अँधेरा है और न प्रकाश-अँधेरा दोनों हैं। कारण कि जहाँ प्रकाश है, वहाँ अँधेरा नहीं होता और जहाँ अँधेरा है, वहाँ प्रकाश नहीं होता, फिर प्रकाश-अँधेरा दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? ऐसे ही तत्त्वमें न ज्ञान है, न अज्ञान है और न ज्ञान-अज्ञान दोनों हैं। वहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है; न प्रकाशक है, न प्रकाश है, न प्रकाश्य है; न द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है; न ध्याता है, न ध्यान है, न ध्येय है। तात्पर्य है कि तत्त्वमें त्रिपुटीका सर्वथा अभाव है। कारण कि त्रिपुटी सापेक्ष है, पर तत्त्व निरपेक्ष है।

* यदि कहनेवाला अनुभवी और सुननेवाला सच्चा जिज्ञासु हो तो शब्दके द्वारा शब्दातीत, इन्द्रियातीत तत्त्वका भी ज्ञान हो जाता है—यह शब्दकी विलक्षण, अचिन्त्य शक्तिका प्रभाव है। परन्तु ऐसा होना तभी सम्भव है, जब केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखी जाय। अगर तत्त्वकी तरफ दृष्टि नहीं रहेगी तो सीखनामात्र होगा अर्थात् कोरा वर्णन होगा, तत्त्व नहीं मिलेगा।

वास्तवमें जहाँ स्थित होकर हम बोलते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वहीं सापेक्ष और निरपेक्षकी बात आती है; तत्त्व वास्तवमें न सापेक्ष है, न निरपेक्ष है।

वह तत्त्व वास्तवमें अनुभवरूप है। उसको गीताने 'स्मृति' कहा है—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३)। स्मृति भी विस्मृतिकी अपेक्षासे है; परन्तु तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। कारण कि स्मृतिकी तो विस्मृति हो सकती है, पर अनुभवका अननुभव (विस्मृति) नहीं हो सकता। तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती*। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (४। ३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति करते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

---

* ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल उधर मेरी दृष्टि नहीं थी। यदि पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जब कि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

९. चुप-साधन

बाहर-भीतरसे चुप हो जाना 'चुप-साधन' है। भीतरसे ऐसा विचार कर लें कि मेरेको कुछ करना है ही नहीं। न स्वार्थ, न परमार्थ; न लौकिक, न पारलौकिक, कुछ भी नहीं करना है। ऐसा विचार करके बैठ जायँ। बैठनेका बढ़िया समय है—प्रातः नींदसे उठनेके बाद। नींदसे उठते ही भगवान्‌को नमस्कार करके बैठ जायँ। जैसे गाढ़ नींदमें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्-अवस्थामें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प न रहे। चिन्तन, जप, ध्यान आदि कुछ भी नहीं करना है। परन्तु 'चिन्तन आदि नहीं करना है'—यह संकल्प भी नहीं रखना है; क्योंकि 'न करने' का संकल्प रखना भी 'करना' है। वास्तवमें 'न करना' स्वतःसिद्ध है। मन-बुद्धि आदिको स्वीकार करके ही 'करना' होता है।

अब किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करना है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। यदि मन न माने तो 'सब जगह एक परमात्मा परिपूर्ण हैं'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। सगुणकी उपासना करते हों तो 'मैं प्रभुके चरणोंमें पड़ा हूँ'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। परन्तु यह दो नम्बरकी बात है। एक नम्बरकी बात तो यह है कि कुछ करना ही नहीं है। इस प्रकार चुप होनेपर भीतरमें कोई संकल्प-विकल्प हो, कोई बात याद आये तो उसकी उपेक्षा करें, विरोध न करें। उसमें न राजी हों, न नाराज हों; न राग करें, न द्वेष करें। शास्त्रविहित अच्छे संकल्प आयें तो उसमें

राजी न हों और शास्त्रनिषिद्ध बुरे संकल्प आयें तो उसमें नाराज न हों। स्वयं भी उन संकल्पोंके साथ न चिपकें अर्थात् उनको अपना न मानें।

आप कहते हैं कि मन बड़ा खराब है, पर वास्तवमें मन अच्छा और खराब होता ही नहीं। अच्छा और खराब स्वयं ही होता है। स्वयं अच्छा होता है तो संकल्प अच्छे होते हैं और स्वयं खराब होता है तो संकल्प खराब होते हैं। अच्छा और खराब—ये दोनों ही प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना न अच्छा होता है और न बुरा होता है। जैसे सुख और दुःख दो चीज हैं, पर आनन्दमें दो चीज नहीं हैं अर्थात् आनन्दमें न सुख है, न दुःख है। ऐसे ही प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित तत्त्वमें न अच्छा है, न बुरा है। इसलिये अच्छे और बुरेका भेद करके राजी और नाराज न हों।

संकल्प आयें अथवा जायँ, उसमें पहलेसे ही यह विचार कर लें कि वास्तवमें संकल्प आता नहीं है, प्रत्युत जाता है। भूतकालमें हमने जो काम किये हैं, उनकी याद आती है अथवा भविष्यमें कुछ करनेका विचार पकड़ रखा है, उसकी याद आती है कि वहाँ जाना है, वह काम करना है आदि। इस तरह भूत और भविष्यकी याद आती है, जो अभी है ही नहीं। वास्तवमें उसकी याद आ नहीं रही है, प्रत्युत स्वतः जा रही है। मनमें जो बातें जमा हैं, वे निकल रही हैं। अतः आप उससे सम्बन्ध मत जोड़ें, तटस्थ हो जायँ। सम्बन्ध नहीं जोड़नेसे आपको उन संकल्पोंका दोष नहीं लगेगा और वे संकल्प भी अपने-आप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु स्वतः नष्ट होती है—यह नियम है।

संसारमें बहुत-से पुण्यकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनसे पुण्य होता है? ऐसे ही संसारमें बहुत-से पापकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनका पाप लगता है? नहीं लगता। क्यों नहीं लगता? कि हमारा उनसे सम्बन्ध नहीं है। उनके साथ हमारा सहयोग नहीं है। जैसे संसारमें पुण्य-पाप हो रहे हैं, ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। हम उनको करते नहीं और करना चाहते भी नहीं। हम उनके साथ चिपक जाते हैं तो उनकी पुण्य और पापकी, अच्छे और बुरेकी संज्ञा हो जाती है, जिससे उनका फल पैदा हो जाता है और वह फल हमें भोगना पड़ता है। इसलिये उनके साथ मिलें नहीं। न अनुमोदन करें, न विरोध करें। संकल्प-विकल्प उठते हैं तो उठते रहें। यह करना है और यह नहीं करना है—इन दोनोंको उठा दें। गीतामें आया है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। (३। १८)

करने और न करने—दोनोंका ही आग्रह न रखें। करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है और न करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है। करना भी कर्म है और न करना भी कर्म है। करनेमें भी परिश्रम है और न करनेमें भी परिश्रम है। अतः करने और न करने—दोनोंसे किंचिन्मात्र भी कोई मतलब न रखकर चुप हो जायँ तो प्रकृतिका सम्बन्ध छूट जाता है और स्वतः परम विश्राम प्राप्त हो जाता है; क्योंकि क्रियारूपसे प्रकृति ही है। वह क्रिया चाहे शरीरकी हो, चाहे मनकी हो, सब प्रकृतिकी ही है। इस प्रकार बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ तो जिसको तत्त्वज्ञान कहते हैं,

जीवन्मुक्ति कहते हैं, सहज समाधि कहते हैं, वह स्वतः हो जायगी।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

—छोटा-से-छोटा साधन तीर्थयात्रा है। उससे ऊँचा शास्त्रचिन्तन है। शास्त्रचिन्तनसे ऊँची ध्यान-धारणा है; और ऊँची-से-ऊँची सहजावस्था (सहज समाधि) है*, उस सहजावस्थामें आप पहुँच जायँगे!

सहजावस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न मूर्च्छा है और न समाधि है। सुषुप्ति और सहजावस्थामें फर्क यही है कि सुषुप्तिमें तो बेहोशी रहती है, पर सहजावस्थामें बेहोशी नहीं रहती, प्रत्युत होश रहता है, जागृति रहती है, ज्ञानकी एक दीप्ति रहती है—

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ (गीता ४। २७)

वास्तवमें चुप होना नहीं है, प्रत्युत चुप तो स्वाभाविक

---

* प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति(न करना)—दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। निर्विकल्प समाधितक सब प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी व्युत्थान होता है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है और क्रिया हुए बिना व्युत्थान होना सम्भव ही नहीं है। इसलिये चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह बैठना, खड़ा होना, मौन होना, सोना, मूर्च्छित होना और समाधिस्थ होना भी क्रिया है। तात्पर्य है कि जबतक प्रकृतिका सम्बन्ध है, तबतक समाधि भी कर्म ही है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कोई अवस्था नहीं होती, प्रत्युत 'सहज समाधि' अथवा 'सहजावस्था' होती है, जिससे कभी व्युत्थान नहीं होता।

सहजावस्था वास्तवमें अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती। अवस्थाभेद प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये सहजावस्थाको सबसे उत्तम कहा गया है।

है। जिनके वेदान्तके संस्कार हैं, वे समझ जायँगे कि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। अतः सहजावस्था स्वाभाविक है।

चुप होते समय अगर नींद आने लगे तो जप-कीर्तन करना शुरू कर दो, खड़े हो जाओ। परन्तु जबतक नींद न आये, तबतक 'कुछ नहीं करना है'—इसीमें (चुप) रहो। एक-दो सेकेण्ड भी इस प्रकार चुप हो जाओ तो बड़ा लाभ है। अगर आधा मिनट चुप हो जाओ तो बड़ी शक्ति पैदा होती है। चुप रहनेमें जो शक्ति पैदा होती है, वह शक्ति करनेमें कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत करनेमें तो शक्ति खर्च होती है। हम काम करते-करते थक जाते हैं तो फिर सो जाते हैं। गहरी नींदमें सब थकावट दूर हो जाती है और मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें ताजगी आ जाती है, करनेकी शक्ति आ जाती है। ऐसे ही प्रलयमें चुप हो जाते हैं तो सर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। महाप्रलयमें चुप हो जाते हैं तो महासर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार जितनी भी सामर्थ्य है, वह सब-की-सब न करनेसे आती है। न करना ही परमात्माका स्वरूप है, जो नित्यप्राप्त है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

न करनेका जो माहात्म्य है, वह करनेका है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा भी नहीं और हो सकता ही नहीं। न करनेमें जो सामर्थ्य है, वह करनेमें है ही नहीं। कारण कि करनेका आरम्भ और अन्त होता है; अतः करना अनित्य है। परन्तु न करनेका आरम्भ और अन्त नहीं होता; अतः न करना नित्य है।

कुछ दिन विचार किये बिना यह चुप होनेकी अटकल आती

नहीं। आप कुछ दिन विचार करेंगे, तब समझमें आयेगी। अभी समझमें न आनेपर भी 'ऐसी सहजावस्था होती है'—यह मान लें। इस सहजावस्थाका वर्णन शास्त्रोंमें और सन्तोंकी वाणीमें भी बहुत कम आता है। सींथल (राजस्थान)में श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। उनकी वाणीमें आता है—

सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम।
'हरिया' जीव र सीव का, एक नाम अरु ठाम॥
सहज तन मन सहज पूजा। सहज सा देव नहीं और दूजा॥

उन्होंने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया—

हरिया जैमलदास गुरु, राम निरंजन देव।
काया देवल देहरो, सहज हमारे सेव॥

'श्रीजैमलदासजी महाराज हमारे गुरु हैं। जो प्रकृतिसे अत्यन्त अतीत हैं, वे राम हमारे देव हैं। यह शरीर हमारा देवल (देवस्थान) है। सहज (कुछ न करना) ही हमारी सेवा है।

कबीरदासजी महाराजकी वाणीमें आता है—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन तैं उपजी, दिन-दिन अधिक चली॥
जहँ-जहँ डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करौं दण्डवत, पूजों और न देवा॥
कहों सो नाम, सुनों सो सुमिरन, खाँव-पियों सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एक सम लेखों, भाव न राखों दूजा॥
आँख न मूँदों, कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानों हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥

सबद निरंतर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई।
दुख-सुख से कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥

ऐसी सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय है—बाहर-भीतरसे चुप हो जाना अर्थात् कुछ न करना। कुछ न करनेसे सब कुछ हो जाता है।

हमें करना कुछ है ही नहीं—न पहले करना था, न अभी करना है, न बादमें करना है। भगवान्का भी चिन्तन नहीं करना है। भगवान्के चरणोंमें गिर जाना है, पर चरणोंका चिन्तन नहीं करना है। न संसारका चिन्तन करना है, न भगवान्का। मनका निरीक्षण भी नहीं करना है। मनका निरीक्षण तभी करेंगे, जब मनके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे, जबकि मनके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। अतः मनकी तरफ देखना ही नहीं है। यह कोई मामूली चीज नहीं है, बहुत ऊँची चीज है! यह सब साधनोंका अन्तिम साधन है। कुछ न करनेमें सब साधन एक हो जाते हैं। जैसे अरबों रुपयोंका एक पैसा भी अंश है, ऐसे ही जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, सहज समाधि कहते हैं, उसका अंश है यह। इसको सन्तोंने 'मूक सत्संग' और 'अचिन्त्यका ध्यान' भी कहा है।

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)	1308	प्रेरक कहानियाँ
1675	सागरके मोती	1408	सब साधनोंका सार
1598	सत्संगके फूल	411	साधन और साध्य
1633	एक संतकी वसीयत	412	तात्त्विक प्रवचन
400	कल्याण-पथ	414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
401	मानसमें नाम-वन्दना	410	जीवनोपयोगी प्रवचन
605	जित देखूँ तित तू	822	अमृत-बिन्दु
406	भगवत्प्राप्ति सहज है	821	किसान और गाय
535	सुन्दर समाजका निर्माण	417	भगवन्नाम
1485	ज्ञानके दीप जले	416	जीवनका सत्य
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये	418	साधकोंके प्रति
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला	419	सत्संगकी विलक्षणता
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
403	जीवनका कर्तव्य	420	मातृशक्तिका घोर अपमान
436	कल्याणकारी प्रवचन	421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
405	नित्ययोगकी प्राप्ति	422	कर्मरहस्य
1093	आदर्श कहानियाँ	424	वासुदेवः सर्वम्
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	425	अच्छे बनो
408	भगवान्से अपनापन	426	सत्संगका प्रसाद
861	सत्संग-मुक्ताहार	1733	संत-समागम
860	मुक्तिमें सबका अधिकार	1019	सत्यकी खोज
409	वास्तविक सुख	1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या....	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		